नागरिक शास्त्र

लेखक

बेनीप्रसाद एम० ए०, पी० एच० डी०,

डी० एस-सी० (लन्दन)

प्रोफ़ेसर, राजनीतिशास्त्र, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३७

प्रथम बार] [मूल्य २)

भूमिका

यह पुस्तक मेरी 'ए० बी० सी० आफ़ सिविक्स' शीर्षक रचना का हिन्दी रूपान्तर है। अनुवाद श्रीयुत शङ्करदयाल श्रीवास्तव एम० ए० ने किया है। इसके लिए तथा पुस्तक के प्रूफ़ देखने के लिए, उनको धन्यवाद देता हूँ।

इस पुस्तक में नागरिक शास्त्र के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गई है। आशा है कि विद्यार्थियों के लिए तथा राजनीति के अन्य जिज्ञासुओं के लिए यह उपयोगी सिद्ध होगी।

नागरिक शास्त्र हिन्दी-साहित्य के लिये अभी नया विषय है। इसकी विवेचना में बहुत से शब्दों का प्रयोग नये अर्थ में करना पड़ता है। पुस्तक में इन अर्थों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। पाठकों और शिक्षकों की सुगमता के लिये एक शब्द-सूची (Glossary) भी लगा दी है जिसकी सहायता से पुस्तक के कठिन हिन्दी शब्द अँगरेज़ी पर्यायों के द्वारा और भी आसानी से समझे जा सकते हैं।

१५-७-३७]

—बेनीप्रसाद

पुस्तक पर कुछ सम्मतियाँ

श्री के० के० आयङ्गर 'दि सर्वेन्ट आफ इण्डिया' नामक पत्र में लिखते हैं :—

"नागरिक शास्त्र के विषय पर जहाँगीर के इतिहास के सुप्रसिद्ध लेखक (डा० बेनीप्रसाद) द्वारा लिखित यह पुस्तक स्वागत करने के योग्य है। 'दि स्टेट इन ऐन्शियन्ट इण्डिया' (प्राचीन भारत में राज्य की स्थिति) तथा 'थ्योरी आफ गवर्नमेण्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया' (प्राचीन भारत में शासन का सिद्धान्त) नामक ग्रन्थों के प्रणेता भी ये ही हैं। प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय में नागरिक शास्त्र के अध्ययन की विधि तथा उसके क्षेत्र का निर्देश करके विद्वान् ग्रन्थकर्त्ता पाठक के सामने समाज और व्यक्ति, कर्त्तव्य और अधिकार, नागरिकता, शिक्षा, कुटुम्ब, समुदाय, पड़ोस, लोकमत तथा नागरिक जीवन पर विचारपूर्ण प्रबन्ध प्रस्तुत करते हैं। अन्त में उन्होंने एक संक्षिप्त किन्तु उपयोगी पुस्तक-सूची भी दे दी है। यद्यपि विषय सामान्य और व्यापक प्रतीत होते हैं तो भी ग्रन्थकर्त्ता ने बड़ी निपुणता से भारतीय परिस्थितियों के साथ वैज्ञानिक परिणाम लागू किये हैं। यह साधारण योग्यता का काम नहीं है। पुस्तक पुनरुक्ति,

दोष तथा असम्भव उद्धरणों से मुक्त है। मुख्य मुख्य विषयों का विश्लेषण संक्षेप में बुद्धिमानी के साथ किया गया है। छोटे छोटे वाक्य एक दूसरे के बाद शृंखलाबद्ध से चले आते हैं। पुस्तक आद्योपान्त अच्छी तरह से लिखी गई है। कालेज के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपयुक्त है।

श्री वी० एन० वर्मा 'लीडर' में लिखते हैं:—

"नागरिक शास्त्र अपेक्षाकृत एक नया विषय है और अभी हाल में इण्टरमीडियट कालेजों के पाठ्यक्रम में निर्धारित किया गया है। मोटे मोटे ग्रन्थों में विषय का विस्तारपूर्ण प्रतिपादन करने के बजाय—जिसे इण्टरमीडियट कक्षा के विद्यार्थी न तो समझ ही सकते हैं और न जो कुछ पढ़ते हैं उसे ग्रहण ही कर सकते हैं—मुख्य मुख्य बातों का सुबोध तथा रोचक शैली में संक्षिप्त वर्णन अधिक उपयोगी होता है। प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक के द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति पूर्ण रूप से की गई है। जैसा कि भूमिका में निर्देश किया गया है यह पुस्तक नागरिक शास्त्र के अध्ययन की प्रस्तावना के रूप में ही लिखी गई है। विषय का प्रतिपादन दुर्बोध और दार्शनिक नहीं है। यह पुस्तक उन लोगों को आवश्यकताओं के बिलकुल उपयुक्त है जिनके लिए लिखी गई है।

डा० बेनीप्रसाद का नागरिक शास्त्र पर पुस्तक लिखने का अधिकार निर्विवाद है। इस विषय का उनका ज्ञान विस्तृत और पूर्ण है। जिस काम में उन्होंने हाथ लगाया है उसे

सन्तोषप्रद रूप से सफलता के साथ सम्पादित किया है—यह कथन भूमिका के बाद आने वाले पृष्ठों से पर्याप्त रूप से प्रमाणित हो जाता है।

'दि हिन्दुस्तान टाइम्स' लिखता है :—

"यह नागरिकता के प्रथम सिद्धान्तों का सच्चा पर्यालोचन है।....................पुस्तक सुगम और स्पष्ट शैली में लिखी गई है। यह प्रधानतः एक सामयिक पुस्तक है। जो कोई भी पाठक इसे पढ़ेगा अपने परिश्रम को सुफल समझेगा।"

——

विषय-सूची

नागरिक शास्त्र

नागरिक शास्त्र

पहिला अध्याय

नागरिक शास्त्र का विषय

विज्ञान सुव्यवस्थित ज्ञान को कहते हैं। यदि हम विश्लेषण करते जायँ तो अन्त में इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि सारा ज्ञान एक है। इससे यह मालूम होता है कि ज्ञान के उस भाग में, जिसे व्यवस्थित किया गया है और जिसका नाम विज्ञान रक्खा गया है, एक मौलिक एकता है। किन्तु खोज और अध्ययन के लिए विज्ञान को अनेक श्रेणियों और शाखाओं में विभक्त करना आवश्यक है। हाल में वैज्ञानिक तथ्यों की बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इसलिए विज्ञान के वर्गीकरण का विस्तार भी बहुत बढ़ गया है। विज्ञानों की संख्या बहुत हो गई है। इसके अतिरिक्त कुछ और विद्यायें हैं जो वास्तव में विज्ञान तो नहीं हैं किन्तु उनसे सम्बन्धित हैं। उनके भी विभाग और उपविभाग किये गये हैं।

विज्ञान

विज्ञानों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का कोई आदर्श और एकरूप वर्गीकरण नहीं है। जिस उद्देश्य को सामने रखकर वर्गीकरण किया जाता है उसी के अनुसार उसका रूप बदलता है। नागरिक विद्या के दृष्टिकोण से यह आवश्यक नहीं है कि हम तर्कशास्त्र तथा विशुद्ध गणित जैसी दुर्बोध विद्याओं के महत्त्व की विवेचना करें। विज्ञान की तीन प्रसिद्ध श्रेणियों की ओर संकेत करके आगे बढ़ना पर्याप्त होगा।

विज्ञानों का वर्गीकरण

प्राकृतिक विज्ञान—अर्थात् भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र आदि—मुख्यतः जड़ पदार्थों का वर्णन करते हैं। वे सब एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इन प्राकृतिक विज्ञानों तथा जीवविद्या-सम्बन्धी विज्ञानों के बीच भी एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवविद्या-सम्बन्धी विज्ञान अर्थात् उद्भिज-विज्ञान और जन्तु-विज्ञान, क्रमशः पौधों तथा पशुओं से सम्बन्ध रखते हैं। प्राणी भौतिक जगत के नियमों के अधीन हैं। उनके अन्दर अनेक पदार्थ आ जाते हैं और उनकी अपनी अलग रसायन-विद्या है। फलतः उद्भिज-विज्ञान तथा जन्तु-विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों को मान लेते हैं और सदा उनसे मदद लेते रहते हैं। फिर, यह स्पष्ट है कि पौधों और पशुओं के जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उद्भिज-विज्ञान और जन्तु-विज्ञान एक दूसरे के साथ ख़ूब मिले हुए हैं। तीसरी बात यह है कि

विज्ञानों का अन्तरसम्बन्ध

जीवविद्या-सम्बन्धी विज्ञानों तथा सामाजिक विज्ञानों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। सामाजिक विज्ञानों का विषय मनुष्य है। मनुष्य एक प्राणी है। उसके बहुत से लक्षण अन्य प्राणियों में—विशेषतः स्तनपायी पशुओं में—पाये जाते हैं। प्राणि-विज्ञान के बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं जो न्यूनाधिक मनुष्य के सम्बन्ध में लागू होते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य ने अनेक प्रकार के पौधों और जानवरों को अपनी गृहस्थी के उपयुक्त बना लिया है; अथवा कम से कम उन्हें अपने अधीन कर लिया है। उसने उनके जीवन की गति को—जो जीवतत्त्ववेत्ता के अध्ययन का विषय है—बदल दिया है। पशु तथा उद्भिज-जगत भी मनुष्य की जीविका, व्यवसाय तथा वासस्थान के स्वरूप को स्थिर किया है और उसके सम्पूर्ण जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। असल में मनुष्य, पौधों तथा पशुओं के अध्ययन के विषय एक ही विज्ञान के अन्तर्गत आ जाते हैं, जिसे जीवन-विज्ञान कहते हैं।

मध्यवर्ती विज्ञान

विज्ञानो का अन्तस्सम्बन्ध उन विद्याओं के द्वारा स्पष्ट हो जाता है जिनकी गणना एक से अधिक श्रेणियों में की जाती है और जिन्हें बीच के विज्ञान कहते हैं। उदाहरणार्थ, भूगोल का सम्बन्ध केवल भूमि के प्राकृतिक रूपों से ही नहीं है बल्कि पौधों और जानवरों के वितरण और स्वभाव पर उन्होंने जो प्रभाव डाला है उससे भी है। यही नहीं, भूगोल यह भी पता लगाता है कि

मनुष्य की प्रकृति, व्यवसाय तथा संस्थाओं पर प्राकृतिक परिस्थिति का क्या प्रभाव पड़ता है। उसमें भौतिक-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान तथा मानव-विज्ञान तीनों के लक्षण पाये जाते हैं। दूसरा उदाहरण मनोविज्ञान उपस्थित करता है जो आदमियों और जानवरों दोनों के आचरण के ख़ास ख़ास पहलुओं का वर्णन करता है।

सामाजिक विज्ञान

मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों को सामाजिक विज्ञान कहते हैं क्योंकि मनुष्य सदा से समाज में रहता आया है और केवल समाज ही में रह सकता है। वैसे तो अनेक पशु भी हैं जो समाज में रहते हैं किन्तु उनके सामाजिक जीवन का विकास इतना अधिक नहीं हुआ है जितना कि मनुष्य के। सामाजिक विज्ञानों का सम्बन्ध जीवन की उस अवस्था से है जो क्रिया-शील, बहुत जटिल तथा बहुमुखी है। वे प्राकृतिक विज्ञान की ही नहीं बल्कि जीवविद्या से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों को भी विशुद्धता को नहीं पहुँच सकते। यही नहीं, वास्तव में कुछ वैज्ञानिक ऐसे हैं जो उनकी गिनती विज्ञान में नहीं करते। किन्तु उन्हें विज्ञान कहना उचित है क्योंकि वे कुछ हद तक उन्हीं तरीक़ों पर चलते हैं जिन पर कि प्राकृतिक और जीवविद्या-सम्बन्धी विज्ञान। इसके अतिरिक्त जहाँ तक संभव होता है वे उसी भाँति व्यवस्थित होने की कोशिश करते हैं।

सामाजिक विज्ञान मनुष्य के सामाजिक आचरण के अनेक

पहलुओं—जैसे विचार, भाव, काम, संगठन आदि—का वर्णन करते हैं। इस प्रकार समाज-विज्ञान सर्वाङ्गीय सामाजिक उन्नति की विवेचना करता है और सामाजिक जीवन के आधार का विश्लेषण करता है।

सामाजिक विज्ञानों का वर्गीकरण

मनोविज्ञान, मनुष्य के मन की अनेक प्रेरणाओं, भावों, विचारों, कल्पनाओं, इच्छाओं तथा उनकी प्रतिक्रियाओं का वर्णन करता है। मानव-विज्ञान मनुष्य के विकास की आदिम अवस्थाओं का वर्णन करता है और इसलिए आदिम काल के लोगों पर विशेष ध्यान देता है। मानव-वंश-विज्ञान, मनुष्य की विभिन्न जातियों से सम्बन्ध रखता है और उनकी विशेषताओं की विवेचना करता है। नीति-विज्ञान आचरण के सिद्धान्तों, उद्देश्यों तथा ढंगों का वर्णन करता है। सब मनुष्यों को समाज में एक साथ रहना पड़ता है, अतः अपने पारस्परिक सम्बन्ध को नियमित करने के लिए वे आचरण के नियम और आदर्श बनाते हैं। उनके बड़े बड़े पहलुओं से ही नीति-विज्ञान का सम्बन्ध है। नीति-विज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है क्योंकि आचरण उन्हीं लोगों से सम्बन्ध रखता है जो समाज में रहते हैं।

सामाजिक जीवन में पग पग पर पारस्परिक सामञ्जस्य के सवाल उठते हैं। कुछ प्रश्न तो ऐसे होते हैं जिनके लिए बहुत कुछ संगठन और नियमन की आवश्यकता होती है। वे राजनीति-विज्ञान ही के अंग हैं। सामाजिक सम्बन्धों

के इस प्रसंग में एक ओर तो अनेक कर्त्तव्य हैं जिनका पालन करना होता है और दूसरी ओर अधिकार हैं जिनका सम्मान करना पड़ता है। नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध मुख्यतः इन्हीं कर्त्तव्यों और अधिकारों से है। एक दूसरे के प्रति मनुष्य के बाह्य आचरण को नियमित करने के लिए जो क़ानून बनाये जाते हैं उनका वर्णन क़ानून-विज्ञान में किया जाता है।

सामाजिक जीवन भौतिक आधारों पर—अर्थात् धन अथवा जीविका के विभिन्न साधनों की प्राप्ति एवं उपयोग—पर अवलम्बित है। अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो इस धन का तथा इसके उत्पादन वितरण, विनिमय तथा उपभोग का वर्णन करता है। इतिहास, जैसा कि वह साधारणतः लिखा गया है, कोई विज्ञान नहीं है। किन्तु उस हद तक जहाँ तक कि वह अतीत काल की संस्थाओं के विकास का क्रम बताता है, उसमें विज्ञान का लक्षण मौजूद है।

ऊपर जिन विज्ञानों का उल्लेख किया गया है उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो दूसरों से स्वतंत्र हो। सामाजिक जीवन में

सामाजिक विज्ञानों का अन्योन्याश्रय

एक आधार-भूत एकता है इसलिए सामाजिक विज्ञान एक दूसरे से बिलकुल पृथक् नहीं हो सकते। वे वास्तव में मानव-व्यापार पर विचार करने के विभिन्न दृष्टिकोण हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। उदाहरणार्थ, भूगोल अन्य सभी सामाजिक विज्ञानों को ऐसे तथ्य प्रदान करता है, जिनके बिना उनका

काम ही नहीं चल सकता। इतिहास भूतकाल की घटनाओं का लेखा रखता है, उनके कारणात्मक सम्बन्धों का पता लगाता है और इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक विज्ञान के विषय पर बहुत प्रकाश डाल सकता है। क़ानून-विज्ञान बहुत सी बातों के लिए राजनीति-शास्त्र पर निर्भर करता है। बहुसंख्यक प्रश्न ऐसे हैं जो अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दोनों से सम्बन्ध रखते हैं। समाज-विज्ञान जो सामाजिक संगठन के मूल-तत्त्वों का निरूपण करता है अन्य सभी सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध रखता है[1]।

ज्ञान स्वतः चरम उद्देश्य नहीं है। वह मनुष्य के कार्य और कल्याण पर अपना प्रभाव डालता है। हाँ विद्वान् लोग
अलबत्ता उसका उपार्जन इतनी पूर्णता और
विज्ञान और दर्शन निरपेक्षता के साथ कर सकते हैं कि वह
चरमोद्देश्य प्रतीत हो। किन्तु अन्ततो गत्वा
वह मनुष्य के कार्य और सुख को प्रभावित करता है और परिस्थिति पर अपने अधिकार को बढ़ाता है। यह बात केवल प्राकृतिक तथा जीवविद्या-सम्बन्धी विज्ञानों के सम्बन्ध में ही

१—जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, यहाँ ज्ञान की सभी शाखाओं का उल्लेख नहीं किया जा सका है। कुछ और भी विद्यायें हैं जैसे—गणित, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा अध्यात्मविद्या। किन्तु हमारे मतलब के लिए यहाँ उनका वर्गीकरण करना आवश्यक नहीं है।

सत्य नहीं है बल्कि सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। विज्ञान से पूरा लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रकार के अनुसन्धानों के परिणामों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय और उन्हें एक में मिलाया जाय। जब विज्ञान का दृष्टिकोण इतना व्यापक और सामान्य हो जाता है तब वह दर्शनशास्त्र में मिल जाता है। तर्कशास्त्र तथा अध्यात्म-विद्या जैसे दुर्बोध विषयों को छोड़कर विज्ञान और दर्शन के बीच थोड़ा अन्तर रह जाता है। ये दोनों विद्यायें एक दूसरे से भिन्न प्रकार की नहीं हैं, उनका अन्तर केवल मात्रा का है। विज्ञान का सम्बन्ध अधिकतर तथ्यों के अनुसंधान से है। दर्शन का काम उन तथ्यों को एक करना और उनका मूल्य निर्धारण करना है। अँगरेज़ी भाषा के शब्द फ़िलासफ़ी (दर्शन) का अर्थ ही ज्ञान का प्रेम है। इससे प्रकट होता है कि दर्शन का उद्देश्य कार्य पर बुद्धिमानी के साथ देख-भाल रखना है। मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, समाज-विज्ञान, क़ानून-विज्ञान, राजनीतिशास्त्र तथा नागरिक शास्त्र उस हद तक जहाँ तक कि वे तथ्यों की खोज और तुलना करते हैं और उनसे साधारण परिणाम निकालते हैं, विज्ञान की शाखायें हैं। लेकिन जहाँ तक वे इन तथ्यों के आन्तरिक महत्त्व का उद्घाटन करते और कार्य के नियमों को निर्धारित करते हैं उस सीमा तक वे दर्शन की शाखायें हैं। जब मानव उद्देश्यों का अनुसन्धान और मूल्य-निर्धारण होता है तब उनके वैज्ञानिक और दार्शनिक

पहलू मिलते हैं। इन विद्याओं के दोनों पहलुओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा नहीं खींची जा सकती।

हम देख चुके हैं कि सभी सामाजिक विज्ञान एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। राजनीतिशास्त्र तथा नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध विशेष रूप से घनिष्ट है। अशतः उनका विषय एक ही है, वे एक ही तरीक़ों का अनुसरण करते और एक ही तरह के सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं। अतः ध्यानपूर्वक यह देखना आवश्यक है कि राजनीति-विद्या और नागरिक शास्त्र किस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और कैसे वे एक दूसरे से भिन्न हैं। अच्छा होगा कि हम पहले इन शब्दों के मूल अर्थों का पता लगावें और बाद को उनमें जो परिवर्तन हुए हैं उन पर दृष्टिपात करें।

राजनीतिशास्त्र

ढाइ हज़ार वर्ष हुए यूनान देश के निवासियों ने अपने नगरों में एक प्रबल सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का विकास किया था। नगर का प्रभुत्व पड़ोस के एक छोटे-से भू-भाग पर रहता था और वह एक स्वतन्त्र राज्य समझा जाता था। यूनानी भाषा में नगर को 'पोलिस' कहते थे। चूँकि प्रत्येक नगर एक राज्य था इसलिए यूनानी लोग 'पोलिस' शब्द का प्रयोग भी राज्य ही के अर्थ में करते थे। यूनानियों के लिए नगर और राज्य दोनों समानार्थक थे और उस अर्थ को प्रकट करने के लिए एक ही शब्द का व्यवहार किया जाता था। 'पोलिस' शब्द से 'पॉलिटिक्स' (राजनीति) शब्द की उत्पत्ति हुई।

राजनीति ज्ञान और कर्म की वह शाखा थी जिसका सम्बन्ध नगर अथवा राज्य के व्यापारों से था। ई० पू० चौथी शताब्दी के पश्चात् यूनानियों की स्वतन्त्रता का लोप हो गया किन्तु उनकी कला, साहित्य तथा दर्शन का प्रभाव वर्तमान काल तक बना हुआ है, यद्यपि बीच में उसका क्रम एकाध बार भग हो चुका है। यूनानियों का 'पॉलिटिक्स' (राजनीति) शब्द राज्य के मामलों के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है।

नागरिक शास्त्र

जिस समय यूनानियों ने अपने देश में नगर-राज्य का विकास किया था उसी समय के लगभग रोमीय लोगों ने इटली में उसी ढंग के नगर-राज्य का आविर्भाव किया। नगर को वे 'सिविटस' कहते थे। वास्तव में वर्तमान 'सिटी' (नगर) शब्द उसी शब्द से निकला है। लैटिन भाषा के 'सिविस' शब्द का अर्थ नागरिक था। जिस प्रकार प्राचीन यूनान में 'पॉलिटिक्स' (राजनीति) शब्द से नगर के मामलों का बोध होता था उसी प्रकार 'सिविस' से निकला हुआ शब्द 'सिविक्स' भी प्राचीन इटली के कुछ भागों में नगर के व्यापारों का बोधक था। इसलिए शब्दशास्त्र के अनुसार 'पॉलिटिक्स' (राजनीति) तथा 'सिविक्स' (नागरिक शास्त्र) दोनों का एक ही अर्थ—सार्वजनिक अथवा राज्य-सम्बन्धी कार्य की कला और विज्ञान—है। रोमीय लोगों ने यूरोप पर और उसके बाहर भी गहरा प्रभाव डाला था। उनके 'सिविक,' 'सिविल' आदि शब्द और उनसे निकले हुए

'सिटीज़ेन' (नागरिक) तथा 'सिविलिज़ेशन' (सभ्यता) आदि शब्द शताब्दियों से प्रयुक्त होते आये हैं।

अब यह समझना आसान है कि नागरिक शास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में भेद करना क्यों कठिन रहा है और क्यों

राजनीतिशास्त्र तथा नागरिक शास्त्र

उन दोनों के बीच आवश्यक रूप से सदा एक बड़ा सम्मिलित क्षेत्र बना रहेगा। दोनों, संगठित राजनीतिक समाज में रहनेवाले मनुष्य से सम्बन्ध रखते हैं। फलतः दोनों मनुष्यों, समुदायों तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करते हैं। दोनों, अधिकारों और कर्तव्यों की विवेचना करते हैं। दोनों इस बात का पता लगाने का उद्योग करते हैं कि सुख की प्राप्ति के लिए कैसी परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं, कौन-सी संस्थायें सामाजिक शान्ति तथा उन्नति के लिए हितकर हैं और व्यवहार में संस्थाओं का संचालन किस प्रकार करना चाहिए।

नागरिक शास्त्र और राजनीति-शास्त्र के बीच विषय का अन्तर प्राय: कुछ नहीं है। अन्तर है इस बात का कि एक कुछ

नागरिक शास्त्र और राजनीति में भेद

बातों पर ज़ोर देता है तो दूसरा उनसे भिन्न और बातों पर ज़ोर डालता है। राजनीति-शास्त्र के साथ नगर से सम्बन्ध रखने वाले भाव अब प्राय: बिलकुल नहीं रह गये हैं। नागरिक शास्त्र के साथ अभी वे भाव लगे हैं। राजनीति-शास्त्र विशेषकर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का वर्णन करता है। इसके

विपरीत, नागरिक शास्त्र खासकर स्थानीय अर्थात् पास-पड़ोस के मामलों से सम्बन्ध रखता है और भ्रातृभाव का बोधक है। राजनीति-विज्ञान राजनीतिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं के विकास का इतिहास बतलाता है। नागरिक शास्त्र उस विकास को अधिकांश रूप में पहले से ही मान लेता है। राजनीति मुख्यत: अधिकारों तथा उनको प्राप्त करने के तरीक़ों पर ज़ोर देती है। नागरिक शास्त्र प्रधानत: कर्तव्यों पर और उनके सम्पादन के लिए अपेक्षित शिक्षा तथा आचरण पर ज़ोर देता है।

अब हम कह सकते हैं कि नागरिक शास्त्र का विषय पड़ोस तथा मनुष्य के कर्त्तव्यों पर विशेष ध्यान देते हुए सामाजिक जीवन की उन्नति और विश्लेषण करना है।

नागरिक शास्त्र का विषय

वह विज्ञान और कला दोनों ही है क्योंकि वह परिस्थितियों की जाँच-पड़ताल करता है और अपनी खोजों के परिणामों का उपयोग लोक-कल्याण की वृद्धि के लिए करता है। वह अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ विशेषत: राजनीति-शास्त्र के साथ सहयोग करके अपना काम करता है और स्वतंत्रतापूर्वक उन सबसे अनेक बातें ग्रहण करता है।

मानव हितों के साथ नागरिक शास्त्र का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उसके अध्ययन के लिए कठोर नैतिक और मानसिक संयम अपेक्षित है। उसके लिए यह आवश्यक है कि बड़े परिश्रम और धैर्य के साथ सामाजिक जीवन के तथ्यों का

संग्रह किया जाय, उनकी तुलना और उनका वर्गीकरण किया जाय तथा उनसे साधारण वैज्ञानिक परिणाम निकाले जायँ।

उसका अध्ययन निरीक्षणात्मक होता है। इसका अध्ययन की विधि मतलब यह है कि उसका ज्ञान ध्यान से देखने और अनुभव करने से प्राप्त हो सकता है। उसका अध्ययन प्रयोगात्मक नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि भौतिक विज्ञान अथवा रसायन-शास्त्र के विद्यार्थी की भाँति नागरिक शास्त्र का विद्यार्थी उपादानों को अपनी इच्छानुसार विभिन्न अनुपातों में मिलाने और अलग करने की क्रिया नहीं कर सकता। किन्तु मनुष्यों ने भूत और वर्तमान काल में सभी देशों के अन्दर जीवन के विभिन्न तरीकों की परीक्षा की है। उन्होंने बहुत-सी विभिन्न संस्थाओं का विकास किया है। इसलिए अगर ध्यानपूर्वक उनका अध्ययन किया जाय तो वैज्ञानिक प्रयोग के कुल लाभ प्राप्त हो सकते हैं। सामाजिक तथ्यों का पूरा अर्थ समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी जाँच-पड़ताल बड़े पैमाने पर की जाय। इसके अतिरिक्त यह निश्चय कर लेना उचित है कि जन-साधारण—किसान, मज़दूर, दूकानदार आदि—किस तरह अपनी ज़िन्दगी बसर करते हैं और वे किन चीज़ों से प्रभावित होते हैं।

सभी सामाजिक सम्बन्ध एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली मानसिक क्रियाओं के परिणाम हैं। दूसरे शब्दों में, मस्तिष्क एक दूसरे पर जो क्रिया करते हैं उसी से वे सम्बन्ध पैदा

होते हैं। वे जड़पदार्थ अथवा जड़शक्ति की पारस्परिक क्रियाओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, कोमल और जटिल होती हैं। उन क्रियाओं की शक्ति को और उनकी शाखा-प्रशाखाओं को केवल पुस्तकों या अध्यापकों की सहायता से समझना असम्भव है। निष्क्रिय मस्तिष्क केवल समाज की ऊपरी सतह को स्पर्श कर सकता है। वास्तविक बातों की तह में पैठने के लिए क्रियाशील और सजग बुद्धि की आवश्यकता है। नागरिक शास्त्र के समुचित अध्ययन के लिए स्वतन्त्र रूप से सोचने-विचारने की ज़रूरत है। इस विषय के विद्यार्थी को दूसरों के मतों को ही ग्रहण कर संतोष नहीं करना चाहिए। उसे स्वयं विचार करने का यत्न करना चाहिए। सामाजिक मामलों पर विचार करते समय उसे अपने दिमाग़ को अन्य सब द्वेष और पक्षपात से मुक्त रखना चाहिए। अपने सम्प्रदाय, श्रेणी या जाति के पूर्व-ग्रहीत विचारों से अथवा अन्य कारणों से उसे प्रभावित न होना चाहिए।

स्वतन्त्र विचार करना

नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी को निरन्तर दूसरों के जीवन को समझने की आवश्यकता पड़ती है। अपने को समझना ही काफ़ी कठिन है फिर दूसरों को समझना तो और भी अधिक कठिन है। कल्पना-शक्ति के केवल संयमित प्रयोग से ही कोई व्यक्ति दूसरों को समझ सकता है। इसके लिए उसे इस योग्य

कल्पना

होना चाहिए कि वह विभिन्न परिस्थितियों में स्थित दूसरे व्यक्तियों की अवस्था में अपने को रक्खे और जीवन तथा घटनाओं के विस्तृत क्षेत्र को समझे। साथ ही कल्पना को उच्छृङ्खल नहीं होना चाहिए और न उसे अन्यायपूर्वक अनुसन्धान तथा तुलना के स्थान को दखल करना चाहिए। ऐसा करना उसकी अनधिकार चेष्टा होगी। कल्पना कभी तुलना और अनुसन्धान का काम नहीं कर सकती। आवश्यकता है वैज्ञानिक कल्पना की जो सभी दिशाओं से तथ्यों को ग्रहण करती है और उन सब पर ध्यानपूर्वक विचार करती है। इसके बाद ही वह सामान्य सिद्धान्तों की सहायता से उन तथ्यों पर प्रकाश डालती है और उन्हें विचार-प्रणाली में गूँथती है। इसी प्रकार मनुष्य को सूक्ष्म दृष्टि और दृष्टिशक्ति—जिनकी गिनती बुद्धि के उपयोग की उच्चतम सफलताओं में होती है—प्राप्त होती हैं।

सहानुभूति

कल्पना के सदृश ही सहानुभूति का नैतिक गुण है। दूसरों की तरह अनुभव करना अथवा दूसरों के प्रति दया करना ही सहानुभूति है। कल्पना-जन्य सहानुभूति ही की सहायता से मनुष्य दूसरों के सुख और दुख, उच्चाकांक्षा तथा निरुत्साह के तह में पैठ सकता है। जब किसी को वर्ण, जाति, वर्ग, धर्म अथवा राष्ट्रीयता के भेद-भावों से पृथक् किये हुए लोगों से बर्ताव करने का अवसर मिलता है तब यह सहानुभूति विशेष रूप से मूल्यवान् सिद्ध होती है। नागरिक शास्त्र के अध्ययन में जो

सहानुभूति सहायक होती है उसे, आँसुओं के रूप में प्रकट होने वाली मूर्खतापूर्ण भावुकता से भिन्न समझना चाहिए। ज्ञान के साथ मेल हो जाने से यह सहानुभूति, सुधार के तरीक़ों और सामाजिक घटनाओं के कारणों का वैज्ञानिक अनुसन्धान करने के लिए प्रेरित करती है।

समाज-सेवा

नागरिक शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करनेवालों को सहानुभूति, कल्पना, और स्वतंत्र विचार की आदतें डालने के लिए तथा अनुसंधान के वैज्ञानिक तरीक़े की शिक्षा के लिए एक व्यावहारिक उपाय बताया जा सकता है। वह उपाय है लोकहित का काम करना। इस काम को जाँच-पड़ताल से प्रारम्भ करके संगठित सेवा पर ख़तम करना चाहिए। कुछ विद्यार्थियों को एक छोटा-सा दल बनाकर किसी गाँव या नगर को अथवा किसी कारख़ाने के मज़दूरों के दल को चुन लेना चाहिए। विद्यार्थियों को आपस में ख़ूब सोच-विचार कर एक प्रश्नावली तैयार कर लेनी चाहिए। इसी प्रश्नावली के अनुसार उक्त गाँव, नगर अथवा दल के लोगों से, उनके पारिवारिक आय-व्यय, सामाजिक रीति-रस्मों, रोज़गारों, शिक्षा की सुविधाओं, सहयोग तथा मुक़दमेबाज़ी वग़ैरह के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करनी चाहिए। व्यक्तिगत सम्पर्कों के योग से उनके उत्तरों से इस बात का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हो जायगा कि सामाजिक शक्तियाँ किस तरह अपना काम कर रही हैं। स्वेच्छानुसार समाज-सेवा

करने से यह ज्ञान और गहरा हो जायगा। स्वास्थ्य-सम्बन्धी अवस्थाओं का सुधार करना, प्रारम्भिक पाठशालायें चलाना सयाने व्यक्तियों के लिए स्कूल खोलना तथा लोगों को अकाल, अग्नि, बाढ़, भूकम्प और महामारियों के कष्टों से बचाना आदि समाज-सेवा के विभिन्न रूप हैं। किसानों, मज़दूरों, हरिजनों (दलित जातियों) तथा अन्य लोगों के बीच अगर भलाइ का काम किया जायगा तो बहुत-से आदमी अपने निश्चित दैनिक कार्य के घेरे से बाहर निकलकर समाज की वास्तविक परिस्थितियों के सम्पर्क में आवेंगे और वे इस बात को और अच्छी तरह से समझने के योग्य हो जायँगे कि समाज-रूपी यंत्र किस प्रकार क्रिया कर रहा है। निष्काम सेवा नैतिक शिक्षा की पाठशाला है। वह व्यक्ति को स्वार्थ के घेरे से ऊपर उठाती है और मानव-जाति के जीवन में प्रवेश कराती है।

नागरिक शास्त्र की उपयोगिता

अगर नागरिक शास्त्र का अध्ययन ठीक तरह से और समुचित उत्साह के साथ किया जाय तो चित्त उदार हो जाय और मनोभाव संकीर्णता से मुक्त हो जायँ। वह नवयुवकों को, समाज के अधिक विस्तृत जीवन में ऐसा भाग लेने की शिक्षा देगा जो कि अधिक उपयोगी और कार्यकर हो। इसके अतिरिक्त वह सामाजिक दायित्व के भाव को गंभीर बना देगा और सामाजिक सेवा तथा आत्माभिव्यक्ति के सुसंगठित जीवन की नींव डालेगा।

दूसरा अध्याय

२२०० वर्ष से अधिक हुए, यूनान देश के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (अरिस्टाटिल) ने अपनी 'पालिटिक्स' (राजनीतिशास्त्र) नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की गिनती संसार की अमर रचनाओं में होती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने अपने विषय का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त-वाक्य को लोगों ने हज़ारों बार दुहराया है। इसलिए यह समझ लेना आवश्यक है कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य समाज में पैदा होता है और समाज ही में रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है। समाज से अलग रहकर वह अपनी ज़िन्दगी बसर नहीं कर सकता। जहाँ तहाँ थोड़े से व्यक्ति कुछ समय के लिए अपने को समाज से पृथक् रख सकते हैं किन्तु तो भी सामाजिक सम्पर्क-विपर्क में रहकर उन्होंने जो भाषा सीख ली है अथवा अपना जो दृष्टिकोण बना लिया है, उसे वे नहीं छोड़ सकते। यही नहीं, वे विचार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है

और अनुभव करने की आदतों का भी परित्याग नहीं कर सकते। जब से मनुष्य पहले पहल इस पृथ्वी पर प्रकट हुआ है, तभी से वह समाज में रहता आया है और इसी प्रकार उसे हमेशा समाज में रहना पड़ेगा।

मनुष्य अनिवार्य रूप से प्रधानतः सामाजिक प्राणी क्यों बना रहेगा, इसके तीन मुख्य कारण हैं। पहिला कारण तो यह है कि वह एक असहाय बच्चे के रूप में पैदा होता है। महीनों और सालों तक वह अपनी जीविका के लिए ही नहीं, बल्कि अपने अस्तित्व के लिए माता, पिता अथवा दूसरे व्यक्तियों पर निर्भर रहता है। कई तरह के प्राणी ऐसे होते हैं जिनके बच्चे पैदा होने के कुछ ही घंटों या दिनों के बाद स्वावलम्बी बन जाते हैं। तो भी सामाजिक जीवन थोड़ी मात्रा में उनमें भी मौजूद रहता है। मनुष्य के बच्चों को अधिक समय तक दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है इसलिए समाज के साथ उनका सम्पर्क घनिष्ट हो जाता है। उनमें माता-पिता या दूसरों की चिन्ता, स्नेह और ध्यान लगा रहता है। अगर बच्चों को बढ़कर सयाना होना है, तो अधिक समय तक उनकी सेवा और देख-भाल करनी होगी। दूसरे शब्दों में, बड़ों को उन्हें समाज के अन्दर अपनी देख-रेख में पाल-पोस कर बड़ा करना होगा। इस प्रकार सिद्ध होता है कि मानव-जाति के क्रम को जारी रखने के लिए समाज की अनिवार्य आवश्यकता है।

बचपन की असहाय अवस्था

मनुष्य की क्षमता

दूसरा कारण यह है कि बच्चा यद्यपि पहले असहाय अवस्था में रहता है तो भी उसमें बड़ी क्षमता मौजूद रहती है। उसमें भाषा सीखने, पूछ-ताछ करने, विचारने, अनेक प्रकार के भावों को अनुभव करने, खेलने, दूसरों की मदद या हानि करने तथा और बहुत-से काम करने की क्षमता रहती है। किन्तु इन शक्तियों का विकास सामाजिक प्रेरणा के बिना नहीं हो सकता। वास्तव में हमारा मस्तिष्क समाज की उपज है। इसका अर्थ यह है कि उसका विकास केवल समाज ही में हो सकता है। किसी व्यक्ति को बोलना तभी आ सकता है जब वह दूसरों के सम्पर्क में आये। कहा जाता है कि मुग़ल-सम्राट् अकबर ने कुछ बच्चों को मनुष्य की बोली सुनने का बिलकुल अवसर ही नहीं दिया। वह जानना चाहता था कि ऐसा करने से वे बच्चे कौन-सी प्राकृतिक भाषा बोलते हैं। चार साल के बाद सब के सब बच्चे गूंगे निकले। देखा गया है कि कभी कभी एकाध बच्चों को भेड़िये उठा ले जाते हैं और उन्हें पालते हैं। ऐसे बच्चों की भी वही दशा होती है। जब संयोगवश वे फिर मनुष्य के हाथ में पड़ जाते हैं तो देखा जाता है कि वे आदमियों की तरह न तो बोल सकते हैं और न विचार या अनुभव ही कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि मानवी शक्तियों का विकास समाज के ही अधीन होता है। सामाजिक क्रिया और प्रतिक्रिया के ही प्रभाव से उनका अपने आप विकास होता

है। कोई मनुष्य, मनुष्य के रूप में तभी काम कर सकता है जब वह दूसरे मनुष्यों के साथ रहे। यदि समाज न हो तो प्रेम या घृणा, ईर्ष्या या होड़, कृतज्ञता या बदला अथवा दूसरे मनोभावों के लिए कोई स्थान ही न रह जाय।* न कोई गाँव हो न शहर, न राजनीतिक व्यापार हो और न आर्थिक। कला और साहित्य के विकास का अवसर ही न मिले। मनुष्य केवल समाज में ही बढ़ सकता है और उसी में रहकर अपना पूर्ण विकास कर सकता है।

मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने का तीसरा प्रधान कारण यह है कि उसका मस्तिष्क बहुत अधिक कोमल होता है, ख़ासकर बचपन में। मनुष्य शीघ्रता के साथ आस-पास से संस्कार ग्रहण करता है। वह दूसरों का अनुकरण करता है और अपने को विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल बना लेता है। यही कोमलता शिक्षा ग्रहण करने की शक्ति का मूल आधार है। इसी के सहारे बच्चा अपने को शिक्षित करता और दूसरों से शिक्षा ग्रहण करता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस कोमलता से ख़तरा भी रहता है। यहाँ पर केवल यह बताना आवश्यक है कि यह बच्चे को शुरू से ही सामाजिक बना देती

कोमलता

* इनमें से कुछ गुण कतिपय जानवरों में होते हैं लेकिन केवल उसी हद तक जहाँ तक कि वे अपना निजी सामाजिक जीवन निर्वाह करते हैं।

है। दूसरे के मत और विचार बच्चे के मस्तिष्क के चारों ओर चक्कर लगाया करते हैं और वह उन्हें तत्काल ग्रहण कर लेता है। पास-पड़ोस के रीति-रस्मों, सस्थाओं तथा सुयोगों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना प्रारम्भ हो जाता है और यह क्रम जोवन भर जारी रहता है। बच्चा सामाजिक वातावरण में साँस लेता है। जैसा कि वर्तमान काल के एक दार्शनिक ने कहा है, समाज उस बच्चे की आत्मा में अपने को मिला देता है।

मनुष्य यथाथ में समाज के अन्दर रहता, विचरता और अपना अस्तित्व रखता है। दार्शनिक दृष्टि से समाज और व्यक्ति के बीच काेइ विरोध नहीं हो सकता।

समाज और व्यक्ति में कुछ विरोध नहीं

प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक रूप से एक सामाजिक व्यक्ति है। साथ ही, समाज केवल व्यक्तियों से बना हुआ है। व्यक्तियों से परे वह कोई प्राणी नहीं है और न उसका अपना कोई अलग मस्तिष्क है। उसका अस्तित्व केवल सदस्यों के मस्तिष्कों में है। अगर सभी व्यक्ति सामाजिक भावों तथा विचारों को अपने अन्दर से निकाल दें तो समाज का अन्त अपने आप हो जायगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्तित्व और सामाजिकता दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। सामाजिकता का भाव केवल व्यक्तियों में ही है और उन्हीं में रह सकता है। व्यक्तिगण केवल समाज में रहते हैं और समाज ही में रह सकते हैं। मामला यहीं ख़तम नहीं होता। व्यक्तियों के मस्तिष्क के विकास और

वृद्धि के साथ-साथ सामाजिकता के भाव का भी विकास और वृद्धि होती है। जिसके व्यक्तित्व का विकास निर्विरोध रूप से खूब अधिक हो जाता है उसके लिए सेवा, सहयोग और सहानुभूति का क्षेत्र बढ़ता जाता है। वह अनेक ऐसी घटनाओं से जिनका अविकसित मस्तिष्कवालों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, सहज ही क्षुब्ध हो उठता है। वह अपने को ऐसी सामाजिक परिस्थितियों में डाल देगा जो दूसरों की पहुँच के बाहर प्रतीत होंगी। संक्षेप में हम कह सकते है कि वह दूसरों की अपेक्षा समाज की सेवा और अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारियों का निर्वाह अधिक अच्छी तरह से कर सकेगा। ऐसे व्यक्तियों की संख्या जितनी ही अधिक होगी समाज का विकास उतना ही अधिक होगा। इसी प्रकार अगर समाज समष्टि रूप से उन्नत, सम्पन्न तथा शिष्ट बन जायगा तो व्यक्ति के निर्बाध विकास के लिए इतना अच्छा अवसर मिल जायगा जितना कि और किसी तरह से नहीं। प्रतिभाशाली व्यक्ति भी प्रेरणा और गतिदायक शक्ति के लिए, शिक्षा तथा निरीक्षण के सुयोगों के लिए समाज पर निर्भर होता है। कोई व्यक्ति रोग के भय से तभी मुक्त और निश्चिन्त हो सकता है जब सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य-विज्ञान की ख़ूब अधिक उन्नति हो जाय। जब समाज का नैतिक आचरण उन्नत बन जायगा तभी कुछ व्यक्ति-विशेष सम्भवतः उदार और परोपकारी बन सकेंगे। समाज-द्वारा उपस्थित किये हुए सुयोगों के अनुसार ही व्यक्तित्व

का विकास होता है। जो सामाजिक जीवन सम्पन्न और बहुमुखी होगा वह परिष्कृत संगीत, चित्रकारी तथा वास्तु-विद्या आदि के अभ्यास और उपभोग का, संगठन तथा राजनीतिज्ञता की क्षमता के उपयोग का, वास्तविक भाषण-स्वतन्त्रता का तथा मानसिक सफलता आदि का सुयोग प्रदान करेगा। ऐसे सामाजिक जीवन के वातावरण में व्यक्ति को अपना पूर्ण विकास करने का, शान्तिमय जीवन का आनन्द उठाने का और आत्मानुभव करने का अवसर मिलेगा। इसके विपरीत, वह समाज जिसका कुछ विकास न हुआ हो, ऐसे सुन्दर सुयोग नहीं प्रदान कर सकेगा और न उस सीमा तक विकास में ही सहायक हो सकेगा। यह ठीक ही कहा गया है कि व्यक्ति समाज की उपज और समाज का हेतु दोनों एक साथ है। उसमें अनेक प्रकार की सामाजिक प्रतिक्रियाओं का समावेश है।

सामाजिक जीवन का यही सार है और इस रूप में वह बहुत काफ़ी सरल है। लेकिन जैसा कि हर एक आदमी जानता है मानवी व्यापार कठिनाइयों से ओत-प्रोत

सामाजिक विभाग हैं। वे बड़ी-बड़ी समस्यायें और जटिलतायें उपस्थित करते हैं। नागरिक शास्त्र के विषयों का यथार्थ सम्बन्ध दिखाने के पहले उनकी उत्पत्ति को समझ लेना आवश्यक है। मूल बात तो यह है कि ऐसा एक भी समाज नहीं है जिसमें रहनेवाले सभी व्यक्तियों की स्थिति समान हो।

मनुष्य बहु-संख्यक जातियों और राष्ट्रों में बँटे हुए हैं। ये जातियाँ और राष्ट्र भी अनेक शाखाओं में विभक्त हैं। अनेक राज्य और राजनीतिक विभाग ऐसे हैं जो धार्मिक और साम्प्रदायिक भेदों से विभक्त हैं। लोगों के बहुत-से समूह ऐसे हैं जिनके रहन-सहन, रीति-रस्म तथा सदाचार सभी अलग अलग हैं। अनेक जातियाँ और श्रेणियाँ जन्म, सम्पत्ति और पेशों के आधार पर अवलम्बित हैं। विभिन्न व्यवसाय अलग अलग संघों तथा गणों में संगठित हैं। रुचि, प्रवृत्ति, शिक्षा और ज्ञान की विभिन्नताय अन्य कारणों के साथ मिलकर सैकड़ों तरह की गोष्ठियों तथा समितियों को जन्म देती हैं। इसके अतिरिक्त, लाखों और करोड़ों कुटुम्ब हैं और प्रत्येक कुटुम्ब में कुछ इने-गिने व्यक्ति रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इनमें से कुछ ही समुदायों से सम्बन्ध रखता है। किसी एक व्यक्ति का सम्बन्ध सभी समुदायों से नहीं हो सकता।

भक्ति

जिन समुदायों से व्यक्तियों का सम्बन्ध रहता है उनके प्रति विभिन्न मात्रा में वे भक्ति रखते हैं। जिन समुदायों से उनका सम्बन्ध नहीं होता उनके प्रति वे विभिन्न मात्रा में सहिष्णुता का भाव रखते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके हृदय में सम्पूर्ण मानव-समाज के प्रति प्रेम रहता है और जो सारे संसार का कल्याण करने का प्रयत्न करते हैं[१]। लाखों आदमी ऐसे हैं जो

१—उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

अपने राष्ट्र के प्रति घनिष्ट अनुराग रखते हैं और उसके लिए वे अपने प्राणों तक का बलिदान करने को तैयार रहते हैं। वे दूसरे देशों की कुछ भी परवा नहीं करते और अपने वास्तविक अथवा कल्पित हितों की सिद्धि के लिए उनके कल्याण को ठुकराते तक हैं। कुछ लोग ऐसे है जो अपने राष्ट्र या देश की अधिक परवाह नहीं करते बल्कि मुख्यत: अपने सम्प्रदाय, वर्ग या जाति के हित-साधन का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रधानत: अपने व्यावसायिक संघ से ही सम्बन्ध रखते हैं। बहुत-से लोग अपने परिवारों के साथ सबसे अधिक स्नेह रखते और उन्हीं के लिए मेहनत और दौड़-धूप करते हैं। कुछ दूसरे समुदायों के साथ उनका अनुराग विभिन्न मात्रा में होता है।

भक्तियों में सामञ्जस्य

ऐसा कोई व्यक्ति शायद ही मिले जिसे हम एकदम स्वार्थी कह सकें। मनुष्य इस तरह बना हुआ है कि एकदम स्वार्थमय जीवन उसके लिए असहनीय हो जायगा। जहाँ ऐसा जीवन पाया जाता है, वहाँ वह किसी रोग के रूप में—विशेषकर किसी प्रकार के पागलपन के रूप में—होगा। व्यवहार में प्रत्येक व्यक्ति कुछ दूसरे लोगों के लिए—अपने कुटुम्ब, सम्बन्धी तथा मित्र आदि के लिए—चिन्ता करता है। वह कम से कम आंशिक रूप से उन्हीं के लिए जीता है। डाकू और हत्यारे लोग भी अपने दल के प्रति भक्ति रखते हैं। साधारण लोग अपने भाग्य को अपने कुटुम्ब, भाई-बन्धु, मित्र-मंडली तथा परिचित व्यक्तियों

और सम्भवतः किसी बड़े समूह के साथ जोड़ देते हैं। सौभाग्य को बात यह है कि सहानुभूति या परमार्थ के भाव को उत्पन्न करने का प्रश्न ही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में जो अपनी प्रकृत अवस्था में है, इसके बीज पहले से ही मौजूद रहते हैं। सवाल सिर्फ़ यह है कि किस प्रकार उसके क्षेत्र को विस्तृत किया जाय और अनेक समुदायों के प्रति होने वाली भक्तियों में किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया जाय। भक्तियों में ठीक से सामञ्जस्य करना ही नागरिकता की एक सबसे अधिक अर्थ-प्रकाशक परिभाषा है। इसी के साथ यह सवाल उठता है कि जिन समुदायों के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है उनके प्रति हमें कैसा रुख़ अख़्तियार करना चाहिए। इस दोहरे सवाल को हल करने के लिए न केवल सहानुभूति की, बल्कि कल्पना और ज्ञान की भी आवश्यकता है।

एक समुदाय ऐसा है जिससे प्रत्येक आदमी का सम्बन्ध है। वह समुदाय मानव-जाति है। मनुष्यों के बीच जो समानतायें हैं उनको देखते हुए वर्ण, जाति, पद और राष्ट्र की विभिन्नतायें नगण्य हैं। मनुष्य-जाति की मौलिक एकता प्राकृतिक है। व्यावहारिक विज्ञान ने दूरी को मिटाकर सारे संसार को आर्थिक और सांस्कृतिक हितों से बाँधकर एक कर दिया है। जो वस्तु किसी एक देश की कृषि अथवा उद्योग-धन्धे पर प्रभाव डालती है उसका प्रभाव अन्य अनेक

मानव-जाति के प्रति भक्ति

देशों के कल्याण पर भी पड़ सकता है। व्यापार संसार-व्यापी है। कोई देश अपने यहाँ माल पर जो कर बाँध देता है या उद्योग-धन्धे की उन्नति के लिए आर्थिक सहायता देता है उसका दूसरे देशों में गहरा प्रभाव पड़ता है। भाव और विचार देश की सीमा का उल्लंघन कर जाते हैं। उनकी उत्पत्ति चाहे जिस स्थान में हुई हो, वे सारे संसार को प्रभावित कर सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव-जाति की एकता एक ऐसी वस्तु है जिसका व्यवहार में बड़ा महत्त्व है। अगर आज किसी को इस प्राचीन प्रश्न का उत्तर देना हो कि "तुम्हारा पड़ोसी कौन है" ? तो उसका केवल यही एक ठीक उत्तर होगा, "सारा संसार"। संसार के विभिन्न भागों में क्या हो रहा है, उससे अब हम उदासीन नहीं रह सकते। संसार में हितों की एकता है। अतः सारे संसार के प्रति भक्ति रखनी आवश्यक है।

राष्ट्र के प्रति भक्ति अथवा देशभक्ति

इसका परिणाम यह निकलता है कि मानव-समाज के बड़े हितों के साथ देशभक्ति का संघर्ष न होना चाहिए। किसी देश को दूसरों की कमज़ोरी से अनुचित लाभ न उठाना चाहिए। किसी भी राष्ट्रवादी पुरुष के लिए यह उचित नहीं है कि वह कभी दूसरे देश के निवासियों को सताने का विचार करे। प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने अभिमान और प्रतिष्ठा को दूसरे राज्यों के साथ, सार्वजनिक उन्नति के लिए, सहयोग करने में बाधक न होने दे। मानवहितवाद के

साथ देशभक्ति का सामञ्जस्य करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, देशभक्ति के साथ सम्पूर्ण मानव-समाज के हित का भी ख़याल रखना चाहिए। अन्यथा अन्त में चलकर सबके हितों को धक्का पहुँचेगा। अन्यायी और अत्याचारी लोग भी इस हानि से बच नहीं सकेंगे। इस सर्वप्रधान बात पर दृष्टि रखते हुए कोई व्यक्ति अपने देश से प्रेम कर उसके हित को अग्रसर कर सकता है। निरपेक्ष भाव से समस्त मानव-समाज की सेवा के साथ ही साथ अपने देश की सेवा करने से मनुष्य का व्यक्तित्व महान् हो जाता है। साथ ही उसे ऐसा सन्तोष और आनन्द मिलता है जो और किसी दूसरी वस्तु से नहीं मिल सकता। वास्तव में यह व्यक्तित्व के अबाध्य विकास का ही अंग है।

समुदायों के प्रति भक्ति

देश कोई निराकार वस्तु नहीं है। उसका तात्पर्य उस सम्पूर्ण जन-समुदाय से है जो उसमें निवास करता है। किसान, मज़दूर और छोटे-मोटे रोज़गार करनेवाले लोग भी—जिनसे कि देश का आधे से अधिक अंग बना हुआ है—उसमें शामिल हैं। सभी प्रकार के राष्ट्रीय कार्य्यों की आयोजना तथा उनका सम्पादन—चाहे वे कार्य सरकारी हों अथवा ग़ैर-सरकारी—इन्हीं लोगों के कल्याण की दृष्टि से होना चाहिए। साथ ही देश के विभिन्न समुदायों और समितियों को इस प्रकार काम करना चाहिए कि देश तथा मानव-समाज के बड़े हितों को हानि न पहुँचे।

इस स्थान पर यह बहस करना ज़रूरी नहीं है कि श्रेणी अथवा जाति के विभागों का होना उचित है या नहीं। असली बात जिस पर सबको ध्यान देना चाहिए यह है कि किसी समुदाय या व्यावसायिक दल के साथ सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति को यह उचित नहीं है कि वह अपने चित्त, अपनी सहानुभूतियों अथवा सार्वजनिक सेवा के भाव को संकुचित और सीमित कर ले। इस बात पर ध्यान रखते हुए मज़दूर, मिल के मालिक, वकील और डाक्टर सभी को अपने अपने संघ या समिति का सदस्य होने और उसके हित को बढ़ाने का अधिकार है। इसी प्रकार किसी सम्प्रदाय अथवा धर्मसंघ के अनुयायियों को चाहिए कि वे उन बड़े समुदायों—देश और मानव-समाज—के हित को जिनसे उनका और दूसरों का सम्बन्ध है, न भूल जायँ। किसी भी समुदाय के सदस्य की हैसियत से प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आचरण को इस प्रकार नियमित करे कि देश अथवा मानव-समाज के हितों को हानि न पहुँचे। यही नक नहीं, उसे और आगे बढ़ना चाहिए और बड़े हित के लिए दूसरे समुदायों के साथ सहयोग करने को सदा तैयार रहना चाहिए।

कुटुम्ब के सम्बन्ध में भी वही सिद्धान्त लागू होता है। जैसा कि आगे प्रकट होगा, कुटुम्ब सभी समुदायों में सबसे अधिक प्रभावशाली है। पालन-पोषण करने, शिक्षा देने तथा धन को पैदा और खर्च करने के सम्बन्ध में वह जो कुछ कार्य करता है, बड़े महत्त्व का होता है। उसका साधारण कार्य-प्रवाह

स्नेह, सेवा और आत्म-त्याग का इतना प्रबल भाव उत्पन्न कर देता है जितना कि दूसरे समुदायों के प्रति केवल कभी कभी होता है। कुटुम्ब की भक्ति अपने आप उत्पन्न होती है और साधारण रूप से दृढ़ होती है। कुटुम्ब की इसी प्रगाढ़ भक्ति को बहुधा स्वार्थपरता के नाम से पुकारते हैं। इसलिए इस बात पर ध्यान रखना और भी आवश्यक है कि कुटुम्ब की भक्ति का बड़े सामाजिक हित के साथ संघर्ष न होने पावे। प्रत्येक कुटुम्ब को चाहिए कि वह अपने जीवन का निर्वाह इस प्रकार करे कि दूसरे के हितों को धक्का न लगने पावे। किसी व्यक्ति का अपनी जीविका का उपार्जन इस तरह से न करना चाहिए कि दूसरों को हानि पहुँचे या वे ग़रीब बन जायँ[१]। प्रत्येक कुटुम्ब के हर एक नौजवान आदमी को चाहिए कि सार्वजनिक उन्नति के कार्य में सहयोग करने के लिए तैयार रहे। कुटुम्ब की भक्ति का उन बड़े समुदायों की भक्ति के साथ सामञ्जस्य होना चाहिए जिनके अन्तिम छोर पर सम्पूर्ण मानव-जाति है।

कुटुम्ब के प्रति भक्ति

विभिन्न प्रकार की भक्तियों में इस तरह क्रम या सामञ्जस्य स्थापित करना हमेशा आसान बात नहीं है। इस बात के समझने

१—रहिमन राज सराहिए, जो बिधु की बिधि होय।
कहा बापुरो तरनि यह, उवत तरैयन खोय॥

में कठिनाई हो सकती है कि मानव-जाति, देश अथवा समुदायों का वास्तविक हित किस बात में है। सम्भव है कि पुराने विचार और परम्परागत रीति-रस्म, बदलती हुई परिस्थितियों के उपयुक्त न सिद्ध हों। नये रीति-रस्मों के विकास में समय लग सकता है। आर्थिक और सामाजिक अवस्थायें अब इतनी जटिल हो गई हैं कि हम उनको देखते ही समझ नहीं सकते। अतः यह आवश्यक है कि हम तमाम परिस्थितियों का पूर्णतः वैज्ञानिक ढङ्ग से अध्ययन करें और समाज की समस्याओं पर खूब विचार करें। सहानुभूतियों का स्वतन्त्रता-पूर्वक काम करने तथा बढ़ने देना भी उससे कम आवश्यक नहीं है।

विचार करने की आवश्यकता

प्रत्येक व्यक्ति देख सकता है कि मानव-सम्बन्ध में कितना भारी कलह है। यह संघर्ष एक श्रेणी का दूसरी श्रेणी के साथ, एक सम्प्रदाय का दूसरे सम्प्रदाय के साथ और एक देश का दूसरे देश के साथ है। इसके अतिरिक्त क्षणिक संघों और समुदायों में सैकड़ों छोटे-मोटे झगड़े होते रहते हैं। इतिहास हमें बतलाता है कि ऐसे झगड़े सदा होते आये हैं। प्रत्येक ऐसे झगड़े से प्रकट होता है कि उसके किसी एक या दोनों पक्ष में, मानव-समाज की भक्ति और शायद देशभक्ति भी अपेक्षाकृत छोटे समुदायों के द्वारा ख़तरे में पड़ जाती है। यह

संघर्ष

जाँच करना उचित होगा कि क्या वे झगड़े ऐसे कारणों से उत्पन्न हुए थे जो कि प्राकृतिक हैं और जिन्हें दूर नहीं किया जा सकता। अगर यह मान भी लिया जाय कि भूतकाल में वे कारण अनिवारणीय थे तो सवाल यह उठता है कि क्या वर्तमान काल में कोई ऐसा उपाय निकाला गया है जो झगड़े के कारणों पर प्रभाव डाले और उनका निराकरण सम्भव कर दे? जो कुछ भी हो, असल सवाल यह है कि विभिन्न भक्तियों में ठीक सामञ्जस्य स्थापित करने के काम को सुगम बनाने के लिए झगड़ों का निवारण कहाँ तक हो सकता है?

वैज्ञानिक आविष्कार

मानव-प्रकृति एक अस्पष्ट पद है। किन्तु उस पद के किसी भी अर्थ में यह कहना ठीक नहीं है कि मनुष्य में मनुष्यों को सताने की स्वाभाविक लालसा होती है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि दो समुदायों के बीच जो झगड़े होते हैं उनका कारण स्वाभाविक विरोध नहीं, बल्कि और कुछ है। असल में होता यह है कि मनुष्य पर्याप्त भोजन, आराम और अवकाश प्राप्त करने और साथ ही सामने आने वाली बाधाओं को पार करने का उद्योग करता है। इतिहास और मानव-विज्ञान से हमें पता चलता है कि हज़ारों वर्ष तक जीवन की सुविधायें और आराम कुछ कठिनाई के साथ और कठिन परिश्रम के बाद ही मिल सकते थे। किन्तु मनुष्य उन्हें अधिक मात्रा में और सुगमता तथा निर्विघ्नता के साथ प्राप्त करना

चाहते थे। जो अधिक बलवान् होते थे वे अधिक आराम और अधिक आमदनी प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे और इसके लिए ज़बरदस्ती दूसरों से अधिकांश परिश्रम कराते थे। इस प्रकार लड़ाई और झगड़े, हार और जीत सदियों से होती आई हैं। युद्ध का बड़ा प्रचार हो गया है और उसको बड़ा गौरव मिल चुका है। इसी कारण सब प्रकार के उद्देश्यों की सिद्धि के लिए लोगों ने उसका आश्रय लिया है। लड़ाई का दूसरा कारण यह था कि अलग अलग होने के कारण विभिन्न जातियों में विभिन्न प्रकार के अभिमान और संस्कृति का जन्म हो गया। जब कभी परिस्थितियों के कारण वे एक दूसरे के सम्पर्क में आये तब उनके बीच धर्म, अभिमान तथा परम्परागत रीति-रवाजों का संघर्ष पैदा हुआ। बहुत कुछ अंश में एक जाति ने दूसरी जाति की संस्कृति को ग्रहण भी किया। लेकिन लड़ाई-झगड़े को उकसाने के लिए उनमें काफ़ी अभिमान शेष रहा। लड़ाई और वैर का एक दूसरा कारण, मनुष्यों और वस्तुओं के विषय में घोर अज्ञान और भ्रमपूर्ण विचार था। इसकी वजह से सन्देह, अविश्वास और घृणा के भाव पैदा हुए। इनके अतिरिक्त लड़ाई-झगड़े के छोटे-मोटे और भी कारण थे। लेकिन यहाँ पर मुख्य मुख्य कारणों—भ्रम, अभिमान, आर्थिक हितों की विभिन्नता तथा संस्कृति की विभिन्नता—का उल्लेख कर देना अलम होगा। इन्हीं कारणों के इर्द-गिर्द लड़ाई-झगड़े की एक परिपाटी पैदा हो गई जिसने कि कभी कभी बड़े सूक्ष्म

रूप से लोगों के रीति-रवाजें, क़ानूनें, संस्थाओं तथा दृष्टिकोण पर प्रभाव डाला।

यदि ये कारण दूर कर दिये जाते तो मनुष्य के लिए यह सम्भव हो जाता कि वह बड़े बड़े समुदायें के प्रति होने वाली भक्तियों को, विशेषकर मानव-समाज की भक्ति को, धक्का पहुँचाये बिना विभिन्न समुदायों के हित-साधन में लगा रहे।

आधुनिक उन्नति

थोड़ा-सा विचार करने पर यह प्रकट हो जायगा कि वर्तमान काल की वैज्ञानिक उन्नति ने शान्ति-स्थापना के कार्य को पहले की बनिस्बत बहुत आसान कर दिया है। वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से खेतों, खानों तथा फ़ैक्टरियों की उपज बहुत अधिक बढ़ाई जा सकती है। मनुष्य के परिश्रम को वे बहुत कम कर सकते हैं और सबको निश्चयात्मक रूप से विश्राम करने का अवकाश दे सकते हैं। वे सबकी आमदनी को बढ़ा सकते हैं और सबको सुरक्षित रखकर जान-माल के ख़तरे से निश्चिन्त कर सकते हैं। लड़ाई-झगड़े के आर्थिक कारणों को अब पूर्णतया दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार मुद्रणकला, रैडियो तथा यातायात के साधनों की सहायता से यह भी सम्भव है कि संसार के प्रत्येक बालक-बालिका और स्त्री-पुरुष को शिक्षित बनाया जाय। ज्ञान की जितनी ही वृद्धि होगी, ईर्ष्या-द्वेष उतना ही कम हो जायगा। इसके अतिरिक्त शिक्षा, भ्रमण तथा सहयोग के सुयोग, विभिन्न संस्कृतियों की पृथकता और असहिष्णुता को

कम कर सकते हैं और उनकी एकता को बढ़ा सकते हैं। अभी तक इन फलों को प्राप्त नहीं किया गया है, किन्तु उनको प्राप्त कर लेना अब सम्भव है। इस सम्भावना को पूर्णरूप से समझ लेना आवश्यक है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि विभिन्न भक्तियों में समुचित सामञ्जस्य पैदा करने के लिए रास्ता किस तरह साफ़ किया जा सकता है। आर्थिक उन्नति, सभ्यता-संस्कृति का ठीक ज्ञान और शिक्षा—ये तीनों, वास्तविक नागरिक जीवन की अवस्थाओं को स्थापित करने के प्रधान साधन हैं।

नैतिक उद्योग

इससे यह तात्पर्य निकलता है कि उन्नति के कार्य को ऊपर बताये हुए मार्ग पर अग्रसर करने के लिए नैतिक उद्योग की आवश्यकता है। जो लोग ठीक प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उन्हें सावधानी के साथ यह समझने को कोशिश करनी चाहिए कि देश और मानव-जाति का वास्तविक हित किसमें है और किस प्रकार वे अपने कुटुम्बों तथा अन्य समुदायों के प्रति अपना अनुराग रक्खें कि उनकी सब भक्तियों में सामञ्जस्य हो जाय। प्रत्येक को चाहिए कि इस सामाजिक भूमिका में अपने कर्त्तव्यों को समझने और यथाशक्ति उनका सम्पादन करने की कोशिश करें। उत्तम आचरण का उदाहरण उपस्थित करना नागरिक जीवन को योग देना है।

तीसरा अध्याय

कर्त्तव्य और अधिकार

योग्यता अथवा क्षमता की दृष्टि से सब लोग ठीक ठीक एक दूसरे के बराबर नहीं हैं। कुछ आदमी ऐसे हैं जिनमें काम करने और सहन करने की शक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक है। कुछ लोगों की बुद्धि दूसरों की बुद्धि की बनिस्बत ज्यादा तेज़ होती है।

असमानता

कुछ लोगों में सौन्दर्य-बोध की क्षमता दूसरों से अधिक होती है। प्रकृति और प्रवृत्ति की विभिन्नतायें प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती है। असमानतायें दो प्रकार की होती हैं। उनमें भेद करना आवश्यक है। एक प्रकार की असमानतायें वे हैं जो प्राकृतिक योग्यता की विभिन्नताओं से उत्पन्न होती हैं। दूसरे प्रकार की असमानतायें वे हैं जो सुविधाओं की असमानताओं के कारण पैदा हुई हैं। ये सुविधायें शिक्षा, धनोपार्जन, यश-लाभ, समाज-सेवा तथा अपनी शक्ति के पूर्ण विकास की है। स्पष्ट है कि सब लोगों को ये सुविधायें समान रूप से नहीं प्राप्त होतीं। पहले प्रकार की असमानता का अर्थ यह है कि कोई ऐसा समाज नहीं

मिल सकता जिसमें सब आदमी योग्यता, प्रभाव अथवा स्थिति में एक दूसरे के बराबर हों। हमें इन दोनों प्रकार की असमानताओं के समझने में ग़लती नहीं करनी चाहिए। कई बातों में, वे असमानतायें जो प्राकृतिक योग्यता की विभिन्नताओं से उत्पन्न होती हैं, दूसरे प्रकार की असमानताओं को बढ़ाने में सहायक होती हैं। इसके अतिरिक्त, सुयोग के न मिलने से बहुत कुछ योग्यता शरीर के साथ नष्ट हो जाती है, जीवन भर उसका कुछ उपयोग ही नहीं होता। हो सकता है कि किसी व्यक्ति में प्राकृतिक योग्यता पर्याप्त मात्रा में हो, लेकिन अगर उसे अपने को व्यक्त करने का अवसर तथा सुविधायें न मिलें तो लोगों को आसानी से भ्रम हो सकता है कि उसमें मानसिक शक्ति ही नहीं है। वास्तव में किसी समाज के अन्दर मूर्खों और जड़बुद्धि वाले लोगों की संख्या बहुत कम होती है। अधिकांश लोग अपनी योग्यता का अच्छा परिचय देने की क्षमता रखते हैं।

अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना पूर्ण विकास करने के लिए अधिक से अधिक सुयोग दिया जाय।

सुयोग की समानता

उसकी शक्तियों के अधिकाधिक विकास के लिए उसे भरा-पूरा जीवन व्यतीत करने तथा आनन्द प्राप्त करने का अधिकतम अवसर देना चाहिए। समाज को इस तरह संगठित होना चाहिए और लोकमत को इस तरह अपना प्रभाव डालना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास के अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हों।

यह समाज के लिए दो दृष्टिकोणों से आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि ऐसा करने से समाज का कल्याण होगा क्योंकि परस्पर-सम्बन्धित व्यक्तियों का संघात ही समाज है। दूसरी बात यह है कि व्यक्तित्व का जितना ही अधिक विकास होगा, सामाजिक सेवा करने का उतना ही अधिक अवसर मिलेगा। एक उच्चशिक्षा-प्राप्त, शक्तिमान तथा सार्वजनिक सेवा का उत्साह रखने वाला व्यक्ति ऐसे आदमी की अपेक्षा निस्सन्देह अधिक उपयोगी हो सकता है जिसे शिक्षा प्राप्त करने का अवसर न मिला हो, जिसकी शक्तियाँ प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मन्द पड़ गई हों और जिसका लोक-सेवा-सम्बन्धी उत्साह मोह से मुक्त होने के कारण अथवा निर्धनता के सबब से दब गया हो। जिस समाज में सुयोग का विस्तार अधिक होगा उसमें विचारकों, वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों तथा सुधारकों की संख्या ऐसे समाज की अपेक्षा अधिक होगी जिसमें विकास का अवसर केवल थोड़े से ही आदमियों को प्राप्त होता हो।

हम चाहे जिस दृष्टिकोण से इस मामले पर विचार करें यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास करने के लिए अधिक से अधिक अवसर निश्चित रूप से मिलना चाहिए। यह सुयोग सभी देशों और सभी जातियों के प्रत्येक बालक-बालिका और स्त्री-पुरुष को देना चाहिए। इस आशय का नियम बना देना उचित है कि प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से

अधिकार

अधिक सुयोग पाने का अधिकार है। उसे जीवन की उन परिस्थितियों को प्राप्त करने का हक़ है जो अधिकतम सुयोग प्रदान कर सकें। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अधिकार समाज से, और उससे भी अधिक सामाजिक कल्याण से सम्बन्ध रखते हैं। उनका अस्तित्व इन दोनों से अलग नहीं है। अधिकार सामाजिक हैं, क्योंकि व्यक्ति का विकास केवल समाज ही में हो सकता है, समाज ही उस विकास को अग्रसर कर सकता है, और मुख्य बात यह है कि वह विकास सामाजिक कल्याण का ही अंग है। अधिकार असल में वे परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक अथवा अनुकूल हैं। अधिकार मूलतः सामाजिक जीवन की ही अवस्थायें हैं। कुछ अधिकार ऐसे हैं जिन्हें राज्य और लोकमत दोनों मानते हैं और जो क़ानूनों तथा रीति-रवाजों में समाविष्ट हो गये हैं। कुछ अधिकार ऐसे हैं जिनकी स्थिति भिन्न है। अदालतों और लोकमत के द्वारा कार्यान्वित न किये जाने पर भी वे अधिकार ही बने रहते हैं।

कर्त्तव्य

अधिकार अथवा सामाजिक जीवन की उपयुक्त परिस्थितियाँ सबके उपयोग के लिए हैं। उनका उपयोग सबका मिलकर करना चाहिए। अधिकार एकदम से वैयक्तिक विषय नहीं हो सकते। वे मुख्यतः सहयोगात्मक होते हैं अर्थात् वे पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करते हैं। केवल सहयोग के बल से ही अधिकारों की

उत्पत्ति होती है और सहयोग की बदौलत ही उनका अस्तित्व बना है। अगर उपयुक्त जीवन-निर्वाह की अवस्थाओं को सबके लिए सुरक्षित रखना है तो प्रत्येक व्यक्ति को उनके उपयोग की आशा करनी चाहिए और साथ ही हर एक आदमी को इस प्रकार काम करना उचित है कि दूसरे लोगों के उपयोग में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। यही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि ऐसी परिस्थितियों को सबके लिए सुलभ करने में निश्चित रूप से प्रोत्साहन दे। एक व्यक्ति के सम्बन्ध में जो अधिकार है वह दूसरों के लिए कर्त्तव्य है। इस प्रकार अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे पर आश्रित हैं। वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। अगर कोई उनको अपने निजी दृष्टिकोण से देखता है तो वे अधिकार हैं। अगर कोई व्यक्ति दूसरों के दृष्टिकोण से उन्हें देखता है तो वे कर्त्तव्य हैं। दोनों सामाजिक हैं और दोनों असल में उपयुक्त प्रकार के जीवन की अवस्थायें हैं जिन्हें समाज के सभी व्यक्तियों के लिए सुलभ बनाना चाहिए। इस बात पर विचार करना व्यर्थ है कि पहले अधिकारों की उत्पत्ति हुई है अथवा कर्त्तव्यों की? दोनों का अस्तित्व एक सूत्र में बँधा हुआ है। वे एक दूसरे के पूरक अङ्ग हैं। अगर प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों पर ही जोर दे और कर्त्तव्य की उपेक्षा करे तो थोड़े ही समय के अन्दर किसी के लिए कोई भी अधिकार शेष न रह जाय।

उपयुक्त जीवन की परिस्थितियाँ जो अधिकार और कर्त्तव्यों की व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित हैं, एक साथ आबद्ध हैं।

उनके वास्तविक अभिप्रायों को प्रकट करने के लिए उनको अलग अलग करना आवश्यक है। पहला अभिप्राय यह है कि सबको शिक्षा प्राप्त करने का अधिक से अधिक सुयोग मिलना चाहिए। एक अर्थ में तो प्रत्येक कुटुम्ब और सम्पूर्ण समाज अपने सदस्यों को किसी न किसी प्रकार की शिक्षा देता है। ऐसा न हो तो समाज के सारे संगठन ही छिन्न-भिन्न हो जायँ। किन्तु अगर किसी को अपना पूर्ण विकास करना है और अपने को समाज के लिए अधिकतम उपयोगी बनाना है तो उसे एक व्यवस्थित और सम्यक् शिक्षा मिलनी आवश्यक है। समाज की वर्तमान परिस्थितियों के अन्दर इस प्रकार की शिक्षा जितनी आवश्यक है उतनी आवश्यक वह पहले कभी नहीं थी। जब तक ऐसी शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जायगी तब तक बच्चे उस वातावरण को नहीं समझ सकेंगे जिसमें उनको जीवन भर रहना है। वे समाज में सफलतापूर्वक आगे नहीं बढ़ सकते और न उपयोगी बन सकते हैं। यह बात स्पष्ट है कि ऐसी शिक्षा की नीव प्रारम्भिक शिक्षा के आधार पर ही डालनी चाहिए। बच्चे अपने हितों की देख-भाल नहीं कर सकते। अतः इस प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य कर देना उचित है। हर एक लड़के और लड़की को स्कूल ज़रूर भेजना चाहिए। जन्म, दर्जा, जाति अथवा पैतृक पक्षपात के कारण इस नियम में कोई अपवाद नहीं होना चाहिए। हर एक बच्चे को शिक्षा

प्रारम्भिक शिक्षा

प्राप्त करने का अधिकार है। उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी लोगों का—और उनमें सारे समाज के लोग आ जाते हैं—यह कर्त्तव्य है कि उसको शिक्षा दें।

लेकिन प्रारम्भिक शिक्षा ही काफ़ी नहीं है। केवल उसी की सहायता से बच्चा इस योग्य नहीं हो सकता कि वह समाज के जटिल संगठन को अच्छी तरह से समझ ले और अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। यह प्रारम्भिक शिक्षा उन बहुसंख्यक पेशों और व्यवसायों में से किसी के लिए भी काफ़ी नहीं होगी जो सामाजिक जीवन को उच्च कोटि पर क़ायम रखने के निमित्त आवश्यक हैं। इसलिए शिक्षा के अधिकार का एक अङ्ग यह है कि सभी बच्चों के लिए आगे की शिक्षा की पूरी सुविधायें सुलभ कर दी जायँ। आगे की शिक्षा विद्यार्थी की रुचि और रुझान के अनुसार अनेक प्रकार की शिल्प-शिक्षा अथवा उदार-शिक्षा में से कोई हो सकती है। किन्तु शिक्षा को आगे जारी रखने की सुविधायें सबके लिए सुलभ रहनी चाहिएँ। अनुभव ने यह प्रमाणित कर दिया है कि इस दिशा में और आगे बढ़ने की ज़रूरत है। सयाने पुरुषों और स्त्रियों के हाथ में अब आवश्यक सार्वजनिक ज़िम्मेदारियों को न्यस्त करना चाहिए। हम आगे चलकर इस बात पर विचार करेंगे कि इन ज़िम्मे-दारियों का रूप क्या होगा। यहाँ पर इतना बतला देना ही काफ़ी होगा कि सार्वजनिक ज़िम्मेदारियों का निर्वाह सिर्फ़ वे ही

आगे की शिक्षा

लोग कर सकेंगे जो सब प्रकार के विचारों को सुनने के लिए तैयार हों और जिनको बुद्धि सजग और क्रियाशील हो। इन गुणों की वृद्धि के लिए पुस्तकालयों तथा वाचनालयों की और साथ ही सयाने लोगों की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। सारांश यह है कि वर्तमान काल में जीवन की समुचित अवस्थाओं के क़ायम करने का मतलब देशव्यापी प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, शिल्प-शिक्षा, उच्च शिक्षा तथा बालिग़-शिक्षा के लिए और निःशुल्क रूप से सार्वजनिक पुस्तकालयों के उपयोग के लिए प्रर्याप्त सुविधायें प्रदान करना है। शिक्षा पाना समाज के सब लोगों का प्रधान अधिकार है और उसकी उन्नति करना उनका प्रधान कर्त्तव्य है।

अब तक शिक्षा के प्रचार में एक बड़ी रुकावट निर्धनता रही है। इसलिए शिक्षा की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि ग़रीबी दूर की जाय। वास्तव में ऐसा

आवश्यक आर्थिक करना अन्य कारणों से भी आवश्यक है।

सुविधा निर्धनता साधारणतः व्यक्तित्व के विकास को रोक देती है। वह सुख के अवसरों को कम कर देती है। उसकी बदौलत ग़रीबों की ज़िन्दगी अमीरों के अधीन रहती है। निर्धन व्यक्ति सामाजिक विचार और शक्ति के विकास में पूरा योग नहीं दे पाता। इसमें सन्देह नहीं कि अपवाद रूप से कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करते हुए आगे बढ़ जाते हैं। किन्तु इससे इस

बात की सत्यता में कोई फ़र्क नहीं आता कि अधिकांश निर्धन व्यक्ति विवश होकर अपने जीवन का विकास नहीं कर पाते। यह स्थिति सामाजिक जीवन की उपयुक्त अवस्थाओं के प्रतिकूल है। समाज के सामान्य हित की दृष्टि से प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को, जो काम करता है अथवा काम करने के लिए तैयार रहता है, जीवन के उपयुक्त आर्थिक मान का अधिकार है। उसे पर्याप्त और स्वास्थ्यकर भोजन, पर्याप्त वस्त्र तथा सुविधाजनक घर के पाने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त उसे किताबों और भ्रमण आदि का हक़ है। उसे अपने मस्तिष्क का विकास करने, लड़कों की देख-रेख करने तथा अधिक विस्तृत सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के लिए कुछ अवकाश पाने का भी अधिकार है। इस कोटि के जीवन के लिए जो आय आवश्यक है उसे हम आवश्यक आर्थिक सुविधा कह सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और अपने उद्योग के बल से और अधिक कमाने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। किन्तु समाज अर्थात् राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह आवश्यक आर्थिक सुविधा को उसके लिए सुरक्षित कर दे। स्पष्ट शब्दों में उसका अर्थ यह है कि सब किसानों की कमाई, सब मज़दूरों की मज़दूरी और सब नौकरों की तनख़्वाह इतनी ज़्यादा होनी चाहिए कि उत्तम भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षा, भ्रमण तथा मनोरंजन आदि का ख़र्चा निकल सके। अगर उनकी तनख़्वाह अर्थात् उनकी क्रयशक्ति इस दर्जे तक पहुँच जायगी तो

व्यौपारियों, डाक्टरों, वकीलों, पत्रकारों तथा लेखकों आदि की—जो उनकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं—आमदनी उसी सतह पर अथवा उससे भी ऊपर अपने आप पहुँच जायगी। पुनः, जो लोग काम करने के लिए तैयार हों लेकिन ऐसे कारणों से जिन पर उनका कुछ वश नहीं है काम न पा सकें उनको राज्य की ओर से भोजन और ख़र्च मिलना चाहिए। आख़िरी बात यह है कि बूढ़ों तथा रोगियों आदि की तरह जो लोग काम करने के लायक़ नहीं हैं उन्हें आवश्यकता के समय राज्य से सहायता मिलनी चाहिए।

ऊपर इस बात का संकेत किया गया है कि आवश्यक आर्थिक सुविधा के अधिकार के साथ ही काम करने का कर्त्तव्य भी लगा हुआ है। अगर लोग काम न करें तो जीवन की बहुत ज़रूरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी धन न मिले। प्रत्येक व्यक्ति को, जिसके हाथ, पैर आदि शरीर के सब अवयव दुरुस्त हैं, कृषि, उद्योग-धन्धा, व्यौपार अथवा दूसरे व्यवसायों में लग कर कुछ काम करना चाहिए जो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हो। किसी को बाप-दादों से मिली हुई सम्पत्ति पर अथवा सम्बन्धियों या मित्रों की वदान्यता पर आश्रित होकर जीवन-निर्वाह करके सन्तोष न करना चाहिए। आलसी होना अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारी की उपेक्षा करना और अपने व्यक्तित्व को विफल बनाना है। काम करना, दुःख,

काम करना कर्त्तव्य है

चिन्ता और हैरानी का शर्तिया इलाज है। यह सामाजिक सेवा का प्रधान साधन है। इससे यह अर्थ निकलता है कि समाज किसी भी प्रकार के सच्चे काम को हीन न समझे। मेहतर, धोबी, चमार आदि लोग भी समाज की सच्ची सेवा करते हैं। अगर वे अपना काम बन्द कर दें तो सारे समाज को कितनी अधिक तकलीफ़ हो? इसलिए समाज को चाहिए कि उनके काम को नीच न समझे और उनसे घृणा न करे। सब प्रकार के काम का आदर करना चाहिए और साथ ही उन लोगों की भी इज्ज़त करनी चाहिए जो उसे करते हैं। कोई व्यक्ति केवल उस अवस्था में ही समाज की सहायता पाने का न्यायसंगत रूप से अधिकारी है जब वह काम करने में बिलकुल असमर्थ हो अथवा जब उसे कोई काम ही न मिलता हो। अगर आर्थिक व्यवसायों की योजना और संगठन होशियारी के साथ किया जाय तो वे, विशेषकर वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से, सारे समाज को आराम से रखने के लिए काफ़ी धन पैदा कर सकते हैं। साथ ही, सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य आदि की उन्नति के लिए एक बड़ी रक़म की बचत भी हो सकती है। स्त्रियों के लिए बच्चों का जनना और उनका लालन-पालन करना ही एक व्यवसाय है। दूसरे काम के बदले यह काम ही उनके लिए उपयुक्त है। लेकिन अविवाहित स्त्रियों को काम करना चाहिए। अपने अवकाश और रुचि के अनुसार सभी स्त्रियों को मानसिक अथवा शारीरिक काम पसन्द करने का अधिकार होना चाहिए।

यह समझना हमारी भूल होगी कि शिक्षा तथा आवश्यक आर्थिक सुविधा के अधिकार निरे आदर्श हैं। वास्तव में वे व्यवहार्य हैं और उन पर अमल किया जा सकता है। इँगलैंड, फ्रांस, डेन्मार्क, स्वीटज़रलैंड, नार्वे, स्वीडन तथा अन्य देशों में वे अधिकार पर्याप्त रूप से व्यवहार में लाये गये हैं। प्रारम्भिक शिक्षा उन देशों में अनिवार्य ही नहीं है बल्कि वह सभी बालक-बालिकाओं को निःशुल्क दी जाती है। वहाँ उच्च शिक्षा, शिल्पशिक्षा, बालिग़-शिक्षा, पुस्तकालयों तथा अजायबघरों आदि की सुविधायें हैं। जहाँ तक आर्थिक प्रश्न का सम्बन्ध है, उन देशों के अन्दर तथा संयुक्तराज्य अमरीका, कनाडा और दूसरे देशों में लोग रहन-सहन के ऊँचे दर्जे पर पहुँच चुके हैं। अनेक देशों में मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी स्थिर कर दी गई है। इस आशय का क़ानून बन गया है कि किसी को उस निश्चित मज़दूरी से कम न दिया जाय। काम करने के अधिक से अधिक घंटे भी क़ानून के द्वारा निश्चित कर दिये गये हैं। सप्ताह में उनसे चालीस या अड़तालीस घंटों से ज़्यादा काम नहीं कराया जा सकता। राज्य की तरफ़ से सभी बुड्ढों को जो ग़रीब हैं, पेन्शनें दी जाती हैं। जिन लोगों को अपना कोई दोष न होते हुए भी कोई काम या नौकरी नहीं मिलती उनको राज्य की ओर से भत्ता दिया जाता है। बेकारी, दुर्घटना तथा बीमारी की

अधिकारों की व्यावहारिकता

मुसीबतों से बचने के लिए बीमा की प्रणालियाँ प्रचलित हैं। समाज-सुधारकों तथा सामाजिक प्रश्नों पर मनन करने वाले व्यक्तियों का मत है कि इन देशों में अभी बहुत कुछ काम करना बाक़ी है। लेकिन यह पर्याप्त रूप से प्रमाणित किया जा चुका है कि किसी राज्य की सर्व-साधारण जनता को शिक्षा और आर्थिक सुख की दृष्टि से उन्नत बनाया जा सकता है। कतिपय देशों में जो कुछ किया जा चुका है या किया जा रहा है वह सुसंगठित उद्योग के द्वारा और सब देशों में भी किया जा सकता है। सम्पूर्ण मानव-जाति को शिक्षित करने तथा सबको जीवन के सुखों और सुविधाओं के देने का विचार असंगत अथवा अव्यवहार्य नहीं है। यह एक पूर्ण रूप से व्यवहार्य आदर्श है। यह शिक्षा तथा आवश्यक आर्थिक सुविधा के प्रारम्भिक अधिकारों का—जिनके बिना समाज का कल्याण होना असम्भव है—अभिव्यक्तीकरण है। समाज को पूर्ण रूप से उन्हें मान लेना चाहिए और उनका आदर करना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सके उन्हें क़ानून के बल से कार्यान्वित करना चाहिए। वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि हम उन्हें 'मौलिक अधिकार' कह सकते हैं।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि अनिवार्य शिक्षा के अतिरिक्त और शिक्षा प्राप्त करने तथा आवश्यक आर्थिक सुविधा के अलावा और कुछ कमाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। उसे अपने व्यक्तित्व का विकास दूसरे तरीक़ों से करने के लिए भी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। किन्तु इस बात का

ध्यान रहे कि यह स्वतंत्रता उसी हद तक ठीक है जहाँ तक कि वह और सब लोगों के आत्म-विकास के समान सुयोग के अनुकूल हो। आत्म-विकास के अधिकार के साथ दूसरों

मुल्की अधिकार के उसी अधिकार का सम्मान करने का कर्त्तव्य भी लगा हुआ है। अगर हम दूसरों के अधिकार का सम्मान नहीं करेंगे तो आत्म-विकास करने का हमारा अधिकार भी गड़बड़ी और अराजकता में लुप्त हो जायगा। सबको समान रूप से सुविधा मिले, यही मुल्की अधिकारों का सिद्धान्त है। अगर सूक्ष्मरूप से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि मुल्की अधिकारों के अन्तर्गत शिक्षा और आवश्यक आर्थिक सुविधा के अधिकार भी—जिनकी विवेचना ऊपर की जा चुकी है—सम्मिलित हैं। किन्तु इस पद का प्रयोग साधारणतः कुछ निर्दिष्ट सुविधाओं तथा निश्चित रूप से उनके उपभोग की अवस्थाओं के अर्थ में होता है। मुल्की अधिकार मुख्यतः वह है जिसका उपभोग उसका स्वामी निर्विघ्नता के साथ कर सके और अगर कोई उसमें बाधा उपस्थित करे तो वह स्वतः अथवा सामाजिक संस्थाओं की सहायता से उसको दूर कर सके। इस अर्थ में मुल्की अधिकार संख्या में बहुत हैं। ये सभी अधिकार लोकमत अथवा अदालत के द्वारा सुरक्षित और कार्यान्वित किये जा सकते हैं। यहाँ केवल कुछ महत्त्वपूर्ण अधिकारों का ही विचार करना आवश्यक है।

मनुष्य के सम्बन्ध में एक मुख्य चीज़ वह पेशा है जिसे वह

अख्तियार करता है। यह पेशा ही अधिकांश रूप से उसके जीवन को सामान्य प्रगति का निश्चित करता है। उसकी मित्र-मण्डली कैसी होगी और सामाजिक कल्याण के साधन में वह किस प्रकार का योग दे सकेगा इसे भी अधिकांशतः उसका पेशा ही निश्चय करता है। अगर किसी व्यक्ति को उसकी प्रवृत्ति और प्रकृति के उपयुक्त ही व्यवसाय मिल जाय तो उसके लिए इससे अधिक आनन्द देने वाली और कोई चीज़ नहीं होगी। ऐसा होना एक प्रकार से अपने आपको प्राप्त कर लेना है। यह यथा-शक्ति समाज की सर्वोत्तम सेवा करने का एक साधन है। इस-लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपना पेशा चुनने का और जो स्थान मिल जाय उसको दखल करने का अधिकार होना चाहिए। जन्म के कारण किसी व्यक्ति के लिए नौकरी का कोई द्वार बन्द न होना चाहिए। किसी खास श्रेणी में पैदा होने के कारण उसे किसी खास पेशा को अख्तियार करने के लिए विवश न करना चाहिए। क़ानून अथवा रीति-रवाज ऐसा न होना चाहिए कि वह किसी व्यक्ति को किसी पेशे में जाने से रोके। सम्भव है कि अच्छी योग्यता रखने वाले उम्मेदवारों की मौजूदगी के कारण किसी आदमी को मनोवाञ्छित व्यवसाय में प्रवेश करने का मौक़ा न मिले। ऐसी अवस्था में उसे अपने मन का कोई ऐसा दूसरा पेशा चुनना चाहिए जिसमें वह तरक्क़ी कर सके। मतलब यह है कि इस मामले में जन्म, वर्ण, मत अथवा श्रेणी के आधार

पेशे का अधिकार

पर क़ानून अथवा लोकमत को कोई क़ैद न लगानी चाहिए और न किसी प्रकार की ज़बरदस्ती करनी चाहिए। समाज किसी व्यक्ति का यह गारंटी नहीं कर सकता कि उसे वही पेशा मिलेगा जो उसे सबसे ज़्यादा पसन्द है। लेकिन उसे हर एक आदमी को यह निश्चय करा देना चाहिए और कराया जा सकता है कि कोइ कृत्रिम भेद-भाव उसके मार्ग में रुकावट न पैदा करेगा। इस सिद्धान्त का उपसिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को इतना ज्ञान प्राप्त करने का समान सुयोग मिलना चाहिए जो उसे पेशे का ठीक ठीक चुनाव करने तथा उसके लिए आवश्यक शिक्षा ग्रहण करने में मदद दे।

अब हम एक दूसरे अधिकार की चर्चा करेंगे जिसका पेशे के चुनाव के अधिकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह स्वतन्त्र गति का अर्थात् निर्बाध रूप से आने-जाने या घूमने-फिरने का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम अपने देश के अन्दर यात्रा करने, वास करने और काम करने का अधिकार मिलना चाहिए। इसके लिए किसी तरह के ज़मानती ख़त या राहदारी (पासपोर्ट) का बन्धन न होना चाहिए। आने-जाने की स्वतन्त्रता से व्यवसाय के चुनाव का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।

स्वतन्त्र गति का अधिकार

प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति और निर्विघ्नता के साथ क़ानून द्वारा निर्धारित आवश्यक आर्थिक सुविधा का उपभोग करने का

अधिकार होना चाहिए। इसके अलावा सामाजिक हित का ख़याल रखते हुए अगर वह अपने काम के द्वारा अतिरिक्त धन पैदा करता है तो उसका उपभोग करने का अधिकार भी उसे मिलना चाहिए। यही सम्पत्ति का अधिकार है। इसका मतलब यह नहीं है कि सम्पत्ति पर समाज का कुछ नियंत्रण ही न रह। सभी युगों में और सभी देशों के अन्दर समाज ने सम्पत्ति के उपभोग और उसके अधिकार पर कुछ नियंत्रण रक्खा है। यह विषय इतना लम्बा है कि इस जगह विस्तार के साथ उसकी विवेचना नहीं की जा सकती। लेकिन इस बात का निर्देश किया जा सकता है कि सम्पत्ति के सम्पूर्ण उत्पादन और वितरण के साथ समाज का हित जुड़ा हुआ है। सब लोगों को समान सुविधा मिले, इसी सिद्धान्त के आधार पर उस हित की रक्षा करना समाज का न्यायोचित अधिकार है। समाज विशेषतः राज्य के द्वारा उत्तराधिकार, ज़मीन की मिलकियत, खान की खोदाई आदि का नियमन करने के लिए क़ानून बनाता है। इसी तरह वह नोट और मुद्रा के चलन, विनिमय तथा सूदख़ोरी पर नियंत्रण रखता है। वह रेल, तार, डाकख़ाने आदि की व्यवस्था करता अथवा उस पर नियंत्रण रखता है और अनेक प्रकार के कर लगाता है। प्राकृतिक साधनों का तथा बड़े पैमाने पर किये जाने वाले उद्योग-धन्धे का सबसे अच्छा उपयोग समाज के हित पर अवलम्बित सहकारी नियंत्रण के द्वारा ही हो सकता

सम्पत्ति का अधिकार

है। अकेले-दुकेले आदमियों के अनियमित प्रयत्न से उनका सर्वोत्तम उपयोग नहीं हो सकता। किसी को यह अधिकार न होना चाहिए कि वह अपने पास सम्पत्ति के विपुल साधनों को बेकार पड़ा रहने दे। कुछ आदमी बहुत-सा रुपया-पैसा और गहना ज़मीन के अन्दर गाड़कर रखते हैं। इससे समाज की हानि होती है क्योंकि समाज का उतना धन बेकार पड़ा रहता है। अगर वह धन किसी काम में लगा रहे तो उससे कुछ लाभ हासिल हो सकता है। इस तरह उसका मूल्य बढ़ जाता है और समाज का हित होता है। हमारे देश में तो करोड़ों की सम्पत्ति गहनों के रूप में स्त्रियों के शरीर पर बेकार पड़ी रहती है। अगर यह धन उत्पादन-कार्य में लगा रहे तो समाज को निश्चय ही कुछ लाभ हो। मतलब यह है कि धन को बेकार न पड़े रहने देना चाहिए। इसके अतिरिक्त नहर, रेल आदि कुछ उद्योग ऐसे हैं जिनका संचालन बहुत बड़े पैमाने पर ही किया जा सकता है। राज्य को आवश्यक रूप से या तो उन्हें अपने हाथ में ले लेना चाहिए या उनका नियन्त्रण करना चाहिए। यह बतलाने की ज़रूरत न होगी कि अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाओं के ख़र्चे के लिए कर लगाने की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह सम्पत्ति पर समाज का बहुत कुछ नियन्त्रण रहता है। इस सामाजिक नियन्त्रण की सीमा और रूप को स्थिर करने के लिए ऐसे निश्चित नियम नहीं निर्धारित किये जा सकते जिनका पालन प्रत्येक दशा में अनिवार्य

हो। वह किसी देश या सम्पूर्ण संसार के अन्दर किसी निर्दिष्ट काल की कुल परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। मुख्य सिद्धान्त यह है कि सामाजिक नियन्त्रण सम्पूर्ण समाज के हित की दृष्टि से होना चाहिए। उसे ऐसा न होना चाहिए कि किसी ख़ास दल को और सबकी अपेक्षा अधिक हानि पहुँचे। इस नियन्त्रण के अधीन रहकर प्रत्येक को अपनी सम्पत्ति का उपभोग स्वतन्त्रतापूर्वक करना चाहिए। किसी को उसके रास्ते में न तो बाधा डालनी चाहिए और न उसे सताना चाहिए।

सुरक्षित रहने का अधिकार

इस प्रकार सुरक्षित रहने के अधिकार का प्रादुर्भाव होता है। इस अधिकार का मतलब यह है कि सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी हों कि कोई दूसरों को न तो हानि पहुँचा सके और न लूट सके। सम्पूर्ण समाज के हितों की रक्षा के लिए शान्ति और क़ानून की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। इसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि दूसरों को नुक़सान न पहुँचाये और रक्षा या निर्भयता की अवस्थाओं को क़ायम रखने के लिए दूसरों के साथ सहयोग करे।

रक्षा का सुदृढ़ आधार न्याय है। सब लोगों को न्याय मिले, इसी आधार पर सार्वजनिक शान्ति की व्यवस्था करनी चाहिए। न्याय पक्षपात-हीन होना चाहिए। किसी की ज़्यादा और किसी की कम सुनवाई न होनी चाहिए। दोनों पक्षों पर ख़ूब गौर कर लेने के बाद जो इन्साफ़ कहे वही फ़ैसला

करना चाहिए। जो हुक्म न्याय के आधार पर अवलम्बित है वह लोगों में विश्वास उत्पन्न करता है और उसका पालन करने के लिए लोग तैयार रहते हैं। न्याय का दूसरा अर्थ यह है कि क़ानून की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को समान समझना चाहिए और सब अदालतों से उसे निष्पक्ष न्याय मिलना चाहिए।

न्याय पाने का अधिकार

जो क़ानून लोगों में भेदभाव करता है वह न्याय के मार्ग से विचलित हो जाता है। इसका दैनिक शासन ऐसा न होना चाहिए कि न्याय के बदले अन्याय होने लगे। अगर मुक़द्दमों के फ़ैसले में बहुत अधिक समय लगेगा या अदालतों का ख़र्चा बहुत ज़्यादा बैठेगा तो ग़रीब लोगों को अमीरों के मुक़ाबिले में असुविधा होगी। अमीर आदमी इन्तिज़ार कर सकते हैं और काफ़ी रुपया ख़र्च कर सकते हैं, लेकिन ग़रीब लोग ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए न्याय को केवल निष्पक्ष ही नहीं होना चाहिए बल्कि उसे सस्ता होना चाहिए और कम समय लेना चाहिए। यही न्याय पाने का अधिकार है। इस अधिकार के उपभोग के साथ ही सबका यह कर्त्तव्य है कि सामाजिक व्यवस्था के अन्दर न्याय के तत्त्वों को दृढ़ करें और सच्चा फ़ैसला करने में मदद दें—उदाहरणार्थ असेसर या जूरी बनकर।

दार्शनिक दृष्टिकोण से न्याय का भाव सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू हो सकता है। यहाँ पर यह आवश्यक

नहीं है कि सामाजिक न्याय के सभी आशयों पर विचार किया जाय। हम उनमें से केवल ऐसे ही कुछ आशयों का उल्लेख करेंगे जिनका अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रश्न से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो बहुत घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्धों से तालुक़ रखते हैं।

कुटुम्ब के अधिकार

कुटुम्ब का समाज में क्या स्थान है, इसकी विवेचना आगे चलकर एक स्वतन्त्र अध्याय में की जायगी[1]। यहाँ पर कौटुम्बिक अधिकारों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। अन्य अधिकारों की भाँति ये अधिकार भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते। य सब सामाजिक कल्याण के आधार पर अवलम्बित है। सबके विकास के लिए पूर्ण सुयोग देना और सबके विकास में सामञ्जस्य स्थापित करना ही सामाजिक कल्याण है। कुटुम्ब के अधिकार सामान्य सामाजिक नियन्त्रण की सीमा के बिलकुल बाहर नहीं हैं। उदाहरणार्थ, समाज नियम बनाता है कि पति या पत्नी को सम्बन्ध-विच्छेद करने की इजाज़त किन परिस्थितियों में दी जानी चाहिए। वह निश्चित करता है कि आकस्मिक रूप से उत्पन्न होने वाली ऐसी अवस्था में बच्चों की देख-रेख किस प्रकार की जाय। इसके अतिरिक्त क़ानून यह नियम निर्धारित कर सकता है कि प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चों को समुचित रूप से शिक्षा दें और टीका लगवायें। अगर

१—देखो अध्याय ६।

कुटुम्ब के किसी एक सदस्य को और दूसरे सदस्य सतावें तो उसकी रक्षा के लिए क़ानून हस्तक्षेप कर सकता है। यहाँ पर इस बात को दुहराना अनुचित न होगा कि आत्म-विकास के लिए सबको समान सुविधा देने के सिद्धान्त के अनुसार ही सामाजिक नियन्त्रण होना चाहिए। किसी व्यक्ति को दूसरे किसी के कौटुम्बिक जीवन के आनन्द में विघ्न न डालना चाहिए। अगर वह ऐसा करे तो उसको क़ानून के अनुसार उचित दण्ड मिलना चाहिए।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

दूसरा महत्त्वपूर्ण नागरिक अधिकार धार्मिक स्वतन्त्रता का है। विश्वास ऐसी वस्तु नहीं है जिस पर बाहर से कोई नियन्त्रण रक्खा जा सके। वह मस्तिष्क के आन्तरिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। मस्तिष्क स्वभाव से ही सब प्रकार के नियन्त्रण के बाहर है। किन्तु विश्वास का सम्बन्ध रीति-रवाज से है। धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार का मतलब है अपने निजी विश्वासों के अनुसार पूजा और प्रार्थना करने का अधिकार। कुछ बातों को दृष्टि में रखते हुए—जिनकी परीक्षा अभी की जायगी—प्रत्येक आदमी को इस बात की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए कि वह जिस धर्म को चाहे माने और जिन धार्मिक कृत्यों को चाहे करे। इसी प्रकार उसे यह भी अधिकार होना चाहिए कि अगर वह चाहे तो किसी भी धर्म को न माने। धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार

का अर्थ यह है कि इन मामलों में कोई रोक या जबरदस्ती न हो। इसका तात्पर्य्य यह है कि किसी मत को मानने या किसी धर्म का अनुयायी होने के कारण उसके साथ न तो किसी तरह का पक्षपात करना चाहिए और न उस पर कोई नागरिक या राजनीतिक अयोग्यता ही लगानी चाहिए। इसलिए राज्य और उसके क़ानूनों को सब मतों के प्रति कठोर निष्पक्षता का भाव क़ायम रखना चाहिए। इससे यह नतीजा निकलता है कि धार्मिक अत्याचार करने का तो कभी विचार भी न करना चाहिए। लेकिन साथ ही किसी को यह अधिकार भी न होना चाहिए कि धामिक स्वतन्त्रता की आड़ में खुल्लमखुल्ला असामाजिक आचरण करे। उदाहरणार्थ, राज्य शिशु-हत्या करने, मनुष्य को बलि चढ़ाने, विधवाओं को जलाने अथवा किसी श्रेणी के मनुष्यों को आर्थिक अथवा सामाजिक अध:पतन के गढ़े में गिराने की इजाज़त नहीं दे सकता, यद्यपि कुछ लोग धार्मिक विधान के आधार पर इनका समर्थन कर सकते हैं। इसी प्रकार राज्य का अधिकार है कि वह बाल-विवाह तथा अनिवार्य वैधव्य की प्रथाओं को रोके। यह उस नागरिक जीवन के सिद्धान्त के अनुकूल है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है—अर्थात् सबके विकास के लिए समान सुयोग देना। विचार करने पर मालूम होगा कि ऐसी प्रथायें जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है कुछ व्यक्तियों को आत्म-विकास का सुयोग नहीं देतीं। ध्यान से देखा जाय

तो ये प्रथायें धर्म से नहीं बल्कि सामाजिक सम्बन्धों से ताल्लुक़ रखती हैं। उनको छोड़कर, प्रत्येक व्यक्ति धार्मिक विश्वास, प्रार्थना, उपासना और धार्मिक क्रिया-काण्ड के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकारी है।

धार्मिक स्वतन्त्रता के साथ धार्मिक सहनशीलता का कर्तव्य लगा हुआ है। धार्मिक भेद-भावों के कारण किसी व्यक्ति के लिए यह उचित नहीं है कि वह दूसरों को सताये।

सहिष्णुता का कर्त्तव्य

इन विभिन्नताओं का असर राजनीतिक भावों तथा सामाजिक सम्बन्धों पर न पड़ने देना चाहिए। किसी एक धर्म को मानने या किसी भी धर्म को न मानने के कारण पड़ोस के तथा प्रान्त, देश आदि विस्तृत क्षेत्रों के साधारण जीवन में सहयोग करने के लिए कोई बन्धन न होना चाहिए।

सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में भी ये ही बातें लागू होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपनी भाषा का उपयोग करे, अपने साहित्य का आनन्द उठावे अथवा अपनी सभ्यता-संस्कृति की महत्ता पर गर्व करे। वह चाहे तो अपनी इच्छा से दूसरी भाषा को ग्रहण कर सकता है, दूसरे साहित्य से प्रेम कर सकता है, अपनी सभ्यता-संस्कृति से अनुराग हटाकर किसी दूसरी सभ्यता और संस्कृति से प्रेम कर सकता है।

सांस्कृतिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता

यह उसका अपना व्यक्तिगत विषय है। आवश्यक बात यह है कि इन सब बातों के लिए उसे दंड न दिया जाय, उस पर अत्याचार न किया जाय, कोई अयोग्यता न लगाई जाय और न उसके साथ पक्षपात किया जाय। सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के साथ सांस्कृतिक सहिष्णुता का कर्तव्य लगा हुआ है। दूसरों को इस कारण टेढ़ी नज़र से देखना कि वे एक ख़ास तरह की भाषा या बोली का इस्तेमाल करते हैं, समाज या पहनावे पर भिन्न विचार रखते हैं और भिन्न प्रकार से भोजन करते हैं, सहिष्णुता के सिद्धान्त का उल्लंघन करना है। धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता की वृद्धि केवल सहिष्णुता के वातावरण में ही हो सकती है। बहुत-से लोग जब अपरिचित लोगों को प्रथम बार देखते हैं तो वे उन्हें घृणा करते हैं। हर एक आदमी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें असहिष्णुता की प्रवृत्ति न पैदा होने पावे। विभिन्नताओं को समझने के लिए उसे अपनी कल्पना का प्रयोग करना चाहिए। अँगरेज़ी में एक कहावत है कि 'सबको समझना सबको क्षमा करना है'। मतलब यह है कि जब आदमी सबको समझ लेता है तब उसमें सबके प्रति सहिष्णुता का भाव पैदा हो जाता है।

धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता स्पष्ट रूप से विचार-स्वतन्त्रता के साथ सम्बद्ध है। विचार-स्वतन्त्रता मस्तिष्क तथा भावों के विकास के लिए अनिवार्य है। इसलिए वह उपयुक्त प्रकार के सामाजिक जीवन के लिए भी अनिवार्य है। मतलब

यह है कि जब तक मस्तिष्क और भावों के विकास का सुयोग न मिलेगा तब तक लोग उचित प्रकार का सामाजिक जीवन भी नहीं व्यतीत कर सकेंगे। ऊपर इस बात की ओर इशारा किया गया है कि विचार स्वभावतः बल के द्वारा दबाया नहीं जा सकता। किन्तु विचार की स्वतन्त्रता भाषण की स्वतन्त्रता के बिना अधूरी और बेकार है। सामाजिक प्राणी

विचार और भाषण की स्वतंत्रता का अधिकार

होने के कारण मनुष्य केवल उसी अवस्था में स्वतन्त्र रूप से विचार करने और उसका आनन्द लूटने के लिए उत्साहित होता है जब उसे दूसरों के सामने अपने विचार को प्रकट करने का सुयोग प्राप्त हो। जिन विचारों को प्रकट नहीं करने दिया जाता वे दिमाग़ पर ज्यादा ज़ोर डालते हैं और उसमें खलबली पैदा कर देते हैं। इसके अतिरिक्त विचारों की विवेचना केवल भाषण के द्वारा ही की जा सकती है। स्वतन्त्र वाद-विवाद से वास्तविक विचारों की सचाई समझ में आ जाती है। वह सत्य को स्पष्ट कर देता है और उसके प्रचार को बढ़ाता है। उससे ग़लती और झुठाई मालूम हो जाती है। वह सत्य की खोज के लिए रास्ता साफ़ कर देता है। स्वतन्त्र वादविवाद दिमाग़ को उत्तेजित कर देता है और व्यक्तित्व को महान् बना देता है। इस प्रकार भाषण-स्वतन्त्रता भी वैयक्तिक विकास और सामाजिक हित के लिए अनिवार्य है। किन्तु भाषण-स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ कुछ कर्त्तव्य भी लगे हुए हैं। प्रत्येक आदमी का कर्त्तव्य है

कि वह अपने लिए जो स्वतंत्रता चाहता है वह दूसरों को भी दे। किसी को इस स्वतन्त्रता का उपयोग अनुचित रूप से नहीं करना चाहिए। बिना कारण दूसरों को बदनाम करना ठीक नहीं है। अगर कोई ऐसा करता है तो उसे क़ानूनी सज़ा ज़रूर मिलनी चाहिए। बलपूर्वक दूसरों के अधिकारों का उल्लंघन करने का उपदेश देना उचित नहीं है। हाँ उसे यह अधिकार अलबत्ता है कि सामाजिक और राजनीतिक मामलों में वह भिन्न विचारों को रक्खे और ज़ाहिर करे। लेकिन उन विचारों को इस तरह नहीं ज़ाहिर करना चाहिए कि दूसरे लोग सार्वजनिक हितों की उपेक्षा कर कोई काम करने के लिए उत्तेजित हो उठें।

सार्वजनिक सभा व गोष्ठी आदि करने का अधिकार

भाषण-स्वतन्त्रता से सार्वजनिक सभा व गोष्ठी आदि करने की स्वतन्त्रता में थोड़ा-सा अन्तर रह जाता है। लोगों को अधिकार है कि वे मनोरञ्जन करने के लिए, कला, साहित्य और सङ्गीत आदि का रस लेने के लिए अथवा किसी कार्य-क्रम या पक्ष का समर्थन करने के लिए आपस में मिलकर समितियाँ स्थापित करें। वे धर्मसंघ, श्रमिक-संघ, कृषक-संघ, साहित्य और कला की परिषद्, ज़मींदारों और कारख़ानों के मालिकों की सभा, वकीलों की सभा, डाक्टरों की सभा, अध्यापकों का संघ, सहकारी समिति तथा पत्रकारों की परिषद् स्थापित कर सकते हैं। इसी प्रकार वे

आपस में मिलकर समाज-सुधार-समितियाँ, राजनीतिक गोष्ठियाँ, सभायें और दल, समुदाय आदि स्थापित कर सकते हैं[१]। उसी सिद्धान्त के आधार पर उन्हें अधिकार है कि वे सार्वजनिक सभायें करें, अपने विचारों की व्याख्या करें, उनके लिए जनता की सहानुभूति प्राप्त करें और राज्य के स्थानीय या ऊँचे अधिकारियों के पास किसी मामले में प्रतिनिधि-मण्डल (डेपुटेशन) भेजें।

तदनुवर्ती कर्त्तव्य

सभा-समिति स्थापित करने तथा सार्वजनिक सभा करने के अधिकारों के साथ जो कर्त्तव्य लगे हुए हैं, वे स्पष्ट हैं। सभाओं और समितियों को चाहिए कि वे दूसरों के प्रति सहिष्णुता का भाव रक्खें। उन्हें दूसरों की निन्दा न करनी चाहिए। अगर वे ऐसा करें तो उन्हें क़ानूनी दण्ड देना चाहिए। क्षणिक जोश में आकर उन्हें किसी भी दशा में, सामाजिक हित पर आघात नहीं करना चाहिए। व्यक्तियों के मामले में यह प्रश्न उतना कठिन नहीं है जितना कि सभा-समितियों के सम्बन्ध में। संघ और समितियाँ अपने संगठन और सदस्यों के द्वारा बड़ा बल प्राप्त कर सकती हैं। वे इस प्रकार एक दूसरे से संघर्ष कर सकती हैं या अपनी प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न कर सकती हैं कि सार्वजनिक हित ख़तरे में पड़ जाय। यह भी सम्भव है कि किसी

१—समुदायों के सम्बन्ध में अध्याय ७ भी देखना चाहिए।

एक समिति के अन्तर्गत ही बहुमत वाले अल्पसंख्यकों पर अत्याचार करें। यह भी असम्भव नहीं है कि कोई सङ्घ या समिति उचित वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करे। सामान्यत: जब तक वे शान्तिपूर्वक अपने काम को करते रहें, तब तक उनके साथ हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लेकिन जब वे झगड़ा या अन्याय करना प्रारम्भ करें तो राज्य, लोकहित का प्रतिनिधि होने के नाते उन सङ्घों या समितियों के कार्य्यों के सम्बन्ध में क़ानून पास करने के लिए हस्तक्षेप कर सकता है। उदाहरणार्थ, अगर किसी शक्तिशाली मज़दूर-सङ्घ तथा स्वामियों के सङ्घ के बीच ऐसा सङ्घर्ष हो जाय जिससे समाज के आर्थिक जीवन के डाँवाडोल होने का ख़तरा हो तो राज्य का कर्त्तव्य और अधिकार है कि वह बीच-बिचाव करे और अन्त में एक समझौता कर दोनों को उसे मानने के लिए बाध्य करे। इसी प्रकार यदि कोई धर्मसङ्घ या धार्मिक समाज राज्य का कार्य करने की अनधिकार चेष्टा करे तो उसे इसी प्रकार रोकना चाहिए। सबके लिए समान सुविधा सुरक्षित रखने के सिद्धान्त के अनुसार राज्य को अधिकार है कि भिन्न भिन्न सभा-समितियों के कार्य्यों में और उनके कार्य-क्षेत्रों में सामञ्जस्य स्थापित करे[१]।

ये ही मुख्य मुख्य मुल्की अधिकार हैं। इनके अतिरिक्त

१—राज्य के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में देखो अध्याय ८

कुछ और भी अधिकार हैं—उदाहरणार्थ, तार या डाक-द्वारा भेजे जाने वाले संवाद को गुप्त रखने का अधिकार। ऐसी सामाजिक अवस्थाओं को क़ायम रखना जो सबके सुन्दर जीवन के लिए अनुकूल हों, वाञ्छनीय है। इसी वाञ्छनीयता से ये सब अधिकार उत्पन्न होते हैं। ये अधिकार आवश्यक रूप से सर्वसाधारण के लिए हैं। अगर ये सारे समाज में न बर्ते गये और केवल किसी अल्पसंख्यक अथवा बहुसंख्यक समुदाय में हो सीमित रक्खे गये तो ये अधिकार नहीं रह जायँगे बल्कि विशेषाधिकार बन जायँगे।

अन्य मुल्की अधिकार

मुल्की अधिकारों के पूरक राजनीतिक अधिकार हैं। राजनीतिक अधिकार वे अवस्थायें हैं जिनके अन्दर बालिग़ लोग शासन के कार्य में भाग लेते और सरकार पर प्रभाव डालते हैं। उनके तथा मुल्की अधिकारों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा नहीं खींची जा सकती। दोनों की उत्पत्ति एक ही सिद्धान्तों से—व्यापक सामाजिक हित विशेषतः सुयोग की समानता के सिद्धान्तों से—होती है। वे एक दूसरे के सहायक हैं। राजनीतिक अधिकारों के बिना मुल्की अधिकार अरक्षित हैं और मुल्की अधिकारों के बिना राजनीतिक अधिकारों का प्रधान महत्त्व ही नष्ट हो जाता है। कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जिन्हें हम मुल्की और राजनीतिक दोनों कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, सङ्घ

मुल्की और राजनीतिक अधिकार

या समिति स्थापित करने, सार्वजनिक सभा करने तथा भाषण-स्वतन्त्रता के अधिकार मुल्की भी हैं और राजनीतिक भी।

राजनीतिक अधिकारों की उत्पत्ति

राजनीतिक अधिकार इस मूल सिद्धान्त के आधार पर अवलम्बित हैं कि समाज के व्यापक जीवन में भाग लेने और सब मामलों पर अपना प्रभाव डालने के सुयोग के बिना कोइ व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता। किसी व्यक्ति को उसके कुटुम्ब, धर्मसङ्घ और द्रव्योपार्जन के कामों में सीमित कर देना उसके व्यक्तित्व को संकुचित कर देना है। ऐसा करने से उसका विकास रुक जाता है और उसका सम्पूर्ण जीवन संकुचित हो जाता है। अगर समाज अपने सब व्यक्तियों की समस्त योग्यताओं और सार्वजनिक सेवा करने के उत्साह से लाभ नहीं उठाता तो इससे उसकी हानि होती है। यही नहीं, समाज का कर्तव्य है कि वह ऐसी अवस्थाओं को कायम रक्खे जो सभी दिशाओं में योग्यता और सार्वजनिक सेवा के भाव को उद्दीपित करे। अगर वह ऐसा नहीं करता तो इससे भी उसकी हानि होती है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सामाजिक जीवन असल में उसी हद तक सामाजिक होता है जहाँ तक कि उसके लाभ, ख़तरे और ज़िम्मेदारियों में सभी लोग हिस्सा लेते हैं। राजनीतिक अधिकारों की बदौलत सामाजिक सहयोग सबसे बड़े पैमाने पर हो सकता है।

म्युनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं तथा अन्य ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं के चुनाव में वोट देने का अधिकार प्रधान राजनीतिक अधिकार है। गाँव जैसे छोटे से क्षेत्र में सभी सयाने लोग इकट्ठा हो सकते हैं और सार्वजनिक कार्य कर सकते हैं। गाँवों में वोट देने का अधिकार जन-सभाओं में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित होने का रूप ग्रहण कर लेता है। हमारे देश में गाँवों के अन्दर जनसभायें स्थापित नहीं हैं किन्तु यूरोप के कुछ देशों में ग्राम-जनसभायें होती हैं। ग्राम की जनसभा में मताधिकार-प्राप्त गाँव वाले प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित होते हैं। उन्हें वोट डालकर प्रतिनिधियों का निर्वाचन नहीं करना पड़ता। किन्तु मताधिकार दोनों दशाओं में विचार अथवा निर्णय-बुद्धि की अपेक्षा रखता है। नाबालिग़ों, बेवक़ूफ़ों और पागलों को मताधिकार नहीं दिया जा सकता। जो लोग अदालतों में दोषी ठहराये जा चुके हैं उन्हें भी यह अधिकार नहीं मिल सकता। जो लोग निर्वाचन के समय में अनुचित कार्रवाइयों के कारण दोषी प्रमाणित हो चुके हैं वे भी इस अधिकार से वञ्चित रह जाते हैं। लेकिन प्रत्येक बालिग़ व्यक्ति—चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष—जो अपनी प्रकृत अवस्था में है, वोट देने का अधिकारी है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह उस बड़े समुदाय का सदस्य हो, जिसे राज्य कहते हैं। उसे

वोट देने का अधिकार

राज्य-सम्बन्धी मामलों के प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार है। उसे अपनी विचार-बुद्धि के द्वारा उस राज्य की सेवा करने का सुयोग मिलना चाहिए। इसलिए वोट देने का अधिकार इस कर्त्तव्य के साथ आबद्ध है कि जहाँ तक हो सके ठीक विचार या निर्णय किया जाय। शिक्षा अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा विचार की क्षमता अधिक देती है। अतः मताधिकार और शिक्षा भी एक दूसरे के साथ लगे हुए हैं। वोट देने और शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार साथ साथ चलते हैं। जब मताधिकार अपढ़ लोगों को देना पड़ता है तब एक कठिन स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अगर शिक्षा के अभाव के कारण मताधिकार देना अस्वीकार कर दिया जाय और यह कहकर शिक्षा न दी जाय कि सर्वसाधारण जनता शिक्षा को पर्याप्त सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक प्रभाव नहीं रखती, तो अजीब गोरखधन्धा उपस्थित हो सकता है। यह सम्भव नहीं है कि इस विषय पर अधिकार-पूर्वक कोई मत प्रकट किया जाय। किन्तु यह अच्छा होगा कि मताधिकार का विस्तार और जन-साधारण में शिक्षा का प्रचार साथ-साथ किया जाय। राजनीतिज्ञों को सदा इस कथन की उपयुक्तता पर विचार करना चाहिए। जो कुछ भी हो, प्रत्येक अवस्था में यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि मताधिकार उपयुक्त जीवन के लिए बहुत आवश्यक है और यथासम्भव सभी बालिगों को यह अधिकार देने का यत्न करना उचित होगा।

म्युनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और व्यवस्थापिका सभा आदि का सदस्य निर्वाचित हो जाने का अधिकार, मताधिकार का पूरक है। मताधिकार के सम्बन्ध में जिन अयोग्यताओं का ऊपर उल्लेख किया गया है वे इस दूसरे अधिकार के सम्बन्ध में और ज़्यादा सख़्ती के साथ लागू होती हैं। इसके साथ जो ज़िम्मेदारियाँ लगी हुई हैं वे मताधिकार की ज़िम्मेदारियों से बहुत अधिक भारी हैं। इसलिए निर्वाचित होने के अधिकार के लिए शिक्षा एक आवश्यक योग्यता समझी जा सकती है।

निर्वाचन का अधिकार

तीसरा राजनीतिक अधिकार पदाधिकार है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी भी पद को ग्रहण कर सकता है। इसका अर्थ केवल यह है कि किसी जगह पर उन सभी व्यक्तियों को नियुक्त होने का समान अधिकार है जो शिक्षा, विचार-बुद्धि, व्यावहारिक शिक्षा, अनुभव तथा ईमानदारी के कारण उस पद के योग्य हों। उसी सिद्धान्त का एक अंग यह है कि शिक्षा और अनुभव प्राप्त करने की सुविधाओं का अधिकार सबको है। इसका तात्पर्य यह है कि जन्म, श्रेणी और धर्म आदि किसी की नियुक्ति में न तो बाधक हों और न सहायक। वंश, जाति और धर्म को योग्यता अथवा अयोग्यता का आधार न बनाना चाहिए। सभी व्यक्तियों को जो किसी

पदाधिकार

पद के लिए आवश्यक योग्यता रखते हैं, उस पद पर नियुक्त होने का अधिकार है—चाहे वे उच्च कुल में उत्पन्न हुए हों या साधारण परिवार में, चाहे वे ब्राह्मण हों अथवा अछूत, चाहे हिन्दू हों चाहे मुसलमान, ईसाई या पारसी। सारांश यह है कि योग्यता ही नियुक्ति की खास कसौटी होनी चाहिए। अगर योग्यता की कसौटी पर कसकर लोगों को विभिन्न पदों पर नियुक्त किया जायगा तो समाज की सर्वोत्तम सेवा हो सकेगी और लोगों को ज़िम्मेदारी के साथ सार्वजनिक मामलों के प्रबन्ध में भाग लेकर अपना कर्त्तव्य पूरा करने का सुयोग मिलेगा। अगर ऊँचे या नीचे दर्जे की नौकरियाँ मौरूसी हो जायँगी अथवा अगर उन पर किसी खास दल का एकाधिकार हो जायगा तो व्यक्तित्व और समाज दोनों की हानि होगी।

ध्यान देने से मालूम होगा कि मुल्की और राजनीतिक अधिकार—दोनों में से कोई भी—कारण-कार्य-सम्बन्ध के सिद्धान्तों पर अवलम्बित नहीं हैं। ये अधि-

राजनीतिक कर्त्तव्य कार मनुष्य के उन मस्तिष्कों और व्यापारों से सम्बन्ध रखते हैं जो गतिशील हैं और जो अभिव्यक्ति के अनन्त रूप और मार्ग ग्रहण कर सकते हैं। सामाजिक अधिकार एक दूसरे से बिलकुल सम्बद्ध हैं और सामाजिक कर्त्तव्यों के साथ बँधे हुए हैं। वे सब ऐसी परिस्थितियों के रूप हैं जो परिवर्तनशील हैं और जिन पर एक साथ विचार करना आवश्यक है। जो कर्त्तव्य राजनीतिक अधिकारों

के साथ बँधे हुए हैं वे अन्य कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिक गुरुतर हैं। शासन एक कठिन कला है। ग़लत चाल से भयानक परिणाम हो सकते हैं। इसलिए यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह सार्वजनिक मामलों—राजनीतिक प्रश्नों—में ख़ूब दिलचस्पी ले और निष्पक्ष मत बनाने की कोशिश करे। उसको चाहिए कि वह अपने दिमाग़ से ईर्ष्या-द्वेष और पक्षपात को बिलकुल निकाल दे, ठीक-ठीक बात मालूम करने की कोशिश करे और सबके हित पर ध्यान दे। मताधिकार को उसे एक पवित्र दायित्व समझना चाहिए। जब वोट देने का समय आये तो उसे केवल सार्वजनिक हित का ख़याल करके ही अपने अधिकार का उपयोग करना चाहिए। व्यक्तिगत अथवा साम्प्रदायिक किसी भी अन्य कारण से उसे प्रभावित नहीं होना चाहिए। निर्वाचित हो जाने पर उसका यह नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है कि और लोगों के साथ मिलकर परिश्रम के साथ लोकहित-साधन के उपायों को सोच निकाले और उन्हें कार्यान्वित करने की भरसक चेष्टा करे। जो लोग ऊँचे ऊँचे पदों पर नियुक्त कर दिये गये हैं उनका धर्म है कि वे अपने जीवन को जनता के कल्याण के लिए ही अर्पित कर दें। उनके सभी कार्यों और विचारों को सदा सामाजिक हित की कामना से ही प्रेरित होना चाहिए। राजनीतिक कर्त्तव्य केवल बुद्धि ही से सम्बन्ध नहीं रखते। उनके निर्वाह के लिए सचाई, सामाजिक सेवा तथा लोकहित-कामना की भी आवश्यकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात

यह है कि कुटुम्ब, श्रेणी, जाति अथवा सम्प्रदाय के विचारों से अपने को बिलकुल अछूता रक्खे और केवल सार्वजनिक हित के साधन को ही अपना उद्देश्य बनाये।

इन अधिकारों की व्यवस्था जिस प्रकार के शासन और सामाजिक संगठन के अन्दर हो सकती है उसे लोकसत्तात्मक कहते हैं। लोकसत्तात्मक शासन देश के सब लोगों पर अवलम्बित रहता है। उसका मुख्य आधार समाज का साधारण सदस्य है। इसलिए उसका संगठन देश-व्यापी शिक्षा और आर्थिक कल्याण के आधार पर ही होना चाहिए। लोकसत्ता लोगों को अगर बहुत-सी चीज़ें प्रदान करती है तो उनसे बहुत-सी चीज़ों की आशा भी रखती है। उसके लिए शिक्षित विवेक-बुद्धि, नैतिक सचाई, सहिष्णुता तथा सार्वजनिक हित एवं सेवा करने की तत्परता अपेक्षित है। केवल इस अवस्था में ही लोकसत्तात्मक शासन शान्तिपूर्ण एवं सर्वाङ्गीय सामाजिक जीवन का विकास कर सकता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पूर्ण उन्नति करने का अवसर दे सकता है।

लोकसत्ता

चौथा अध्याय

नागरिकता

प्राचीन काल के रोम-निवासी लोग अधिकारों को ही नागरिकता समझते थे। जब रोम का साम्राज्य बढ़ा तब नागरिकता को कई श्रेणियाँ हो गईं। सबसे रोम में नागरिकता नीचे दर्जे की श्रेणी वह थी जिसमें लोगों को केवल दो-चार इने-गिने मुल्की अधिकार ही प्राप्त थे और सबसे ऊँची श्रेणी वह थी जिसके लोगों को सभी मुल्की और सभी राजनीतिक अधिकार मिले थे। वहाँ 'सिटीज़नशिप' (नागरिकता) शब्द ही प्रचलित था, क्योंकि एथेन्स तथा अन्य यूनानी बस्तियों की तरह रोम भी पहले पहल वास्तव में एक 'सिटी-स्टेट' (नगर-राज्य) ही था। आगे चलकर रोम-राज्य का रूप तो बहुत बदल गया किन्तु नगर-राज्य में प्रचलित सिद्धान्त और पद बहुत दिनों तक जीवित बने रहे।

अधिकारों का सम्बन्ध सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में, पहले केवल नागरिकों से था। बाद को एकान्त रूप से नागरिकों के साथ उनका सम्बन्ध केवल सिद्धान्त में ही रह गया। सिर्फ़

नगर में निवास करना ही नागरिकता की योग्यता थी। जो नगर में रहता था वही नागरिक कहलाता था। बाद को उसका यह अर्थ नहीं रह गया। नागरिकता का सम्बन्ध मुख्यतः अधिकारों से हो गया। जो लोग नगर में रहते लेकिन अधिकारों से वञ्चित होते थे, वे नागरिक नहीं कहलाते थे। उदाहरणार्थ, ग़ुलाम नागरिक नहीं थे, यद्यपि कई पीढ़ियों तक उन्होंने नगर में निवास किया था। इसके विपरीत वे लोग, जो असल में नगर के अन्दर निवास तो नहीं करते थे लेकिन नगर के सदस्य माने जाते और अधिकारों से युक्त होते थे, नागरिक कहलाते थे।

नागरिकता के साथ अधिकारों का सम्बन्ध वर्तमान काल तक बना रहा। प्रत्येक दूसरे का स्मरण दिलाता है। किन्तु 'पॉलिटिक्स' (राजनीति) तथा 'सिविक्स' (नागरिक शास्त्र)[1] शब्दों की भाँति, 'सिटीज़नशिप' (नागरिकता) शब्द का अर्थ भी बदल गया है। वास्तव में अर्थ का परिवर्तन नहीं बल्कि अर्थ का विस्तार किया गया है और वह इसलिए कि आज-कल की राजनीतिक अवस्थाओं तथा आदर्शों का समावेश उसके अन्तर्गत हो जाय। छोटे-से नगर-राज्य ने बड़े-से देश-राज्य को अपने अन्दर समाविष्ट कर लिया

नागरिकता का आधुनिक अर्थ

१—देखो पीछे अध्याय १ पृष्ठ १०।

है। हम अब ग़ुलामी को जायज़ नहीं मानते और न स्त्रियों को राजनीतिक जीवन और ज़िम्मेदारियों से अलग रखना ही उचित समझते हैं। आधुनिक समय में, नागरिकता जहाँ तक वह अधिकारों को सूचित करती है, समाज के सभी बालिग़ व्यक्तियों से सम्बन्ध रखती है। एक प्रकार से तो वस्तुतः हम और आगे बढ़कर यह भी कह सकते हैं कि बच्चों के भी कुछ अधिकार हैं। उदाहरणार्थ, उन्हें शिक्षा पाने तथा स्वास्थ्य-प्रद-रूप से पालित-पोषित किये जाने का अधिकार है।

ग्रामवासी और नगर-निवासी

अच्छा होगा कि आधुनिक नागरिकता के अभिप्रायों को स्पष्ट कर दिया जाय। पहली बात यह जान लेनी चाहिए कि अधिकारों और कर्त्तव्यों का सम्बन्ध गाँव के लोगों से उतना ही है जितना कि नगर-निवासियों से। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जो अवस्थायें आत्म-विकास के अनुकूल हों उनको सभी गाँवों और सभी शहरों में उत्पन्न करना चाहिए। इन अवस्थाओं अथवा अधिकारों के लिहाज़ से ग्रामवासी भी उसी प्रकार नागरिक हैं जिस प्रकार कि शहर वाले। यह बात ज़रूर है कि नगर राजनीतिक जीवन, धन और सभ्यता-संस्कृति के केन्द्र है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शहर वालों के हित के आगे हम गाँव वालों के हित का ख़्याल न करें। ग्रामवासियों के हित को नगर-निवासियों के हित के अधीन करना उचित नहीं है। दोनों के हित पर बराबर ध्यान रखना चाहिए। इसी

प्रकार सबसे काम करने की आशा भी करनी चाहिए। व्यवसाय, सम्पत्ति, रक्षा, न्याय, कौटुम्बिक जीवन, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता, सार्वजनिक सभा तथा सङ्घ-समिति के अधिकार और उनके साथ लगे हुए कर्त्तव्य, गाँव वालों से उतना ही सम्बन्ध रखते हैं जितना कि नगर-निवासियों से। वोट देने, सदस्य निर्वाचित होने तथा पद पर नियुक्त किये जाने के अधिकारों और उसके लिए अपेक्षित योग्यताओं एवं कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए।

ग्राम के पुनःसंगठन का प्रश्न

व्यावहारिक रूप में इस उद्देश्य की पूर्ति केवल उन रुकावटों को दूर करने से हो सकती है जो ग्रामवासी व्यक्ति के पूर्ण जीवन के विकास-मार्ग में उपस्थित होती हैं। वह ऐसे वातावरण में रहता है जो उसे एक बहुत संकीर्ण और सीमाबद्ध जीवन व्यतीत करने के लिए विवश करता है। एक समय था जब गाँव कुछ अंशों में आत्म-निर्भर था। उसे अपना जीवन बिताने के लिए बाहर के लोगों के अधीन नहीं रहना पड़ता था। अपने लिए सभी आवश्यक चीज़ों को वह स्वयं पैदा कर लेता था। उस समय उसका अपना एक ख़ास तरह का सामाजिक जीवन था। किन्तु वर्त्तमान काल में यातायात की सुविधाओं ने उस आत्म-निर्भरता को नष्ट कर दिया है और सामूहिक जीवन को बड़ा भारी धक्का पहुँचाया है। पुराने रीति-रवाज उठ गये हैं अथवा उठते जा रहे हैं। ऐसी अवस्था में हमारे सामने अब

ग्रामीण जीवन के पुनःसंगठन का प्रश्न उपस्थित होता है। पुरानी परिस्थितियों को फिर से वापस लाना अब सम्भव नहीं हैं क्योंकि परिस्थितियाँ बिलकुल बदल गई हैं। देश के कोने कोने में रेलें खुल गई हैं। यात्रा बहुत अधिक होने लगी है। माल को शीघ्रता के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचा कर रेलों ने व्यवसाय की पुरानी व्यवस्था को जड़ से ऐसा नष्ट कर दिया है कि हम उसको फिर से क़ायम नहीं कर सकते। अख़बार गाँव तक पहुँच गये हैं और वहाँ हलचल पैदा कर दिया है। अब इस प्रगति को रोका नहीं जा सकता। अगर ऐसा करना सम्भव भी हो तो भी उस प्रगति को रोकना उचित नहीं है। इस प्रगति में और अधिक पूर्ण और सम्पन्न जीवन का चिह्न वर्त्तमान है। इसलिए पहले की तरह ग्रामीण जीवन को अब पृथकता के आधार पर संगठित नहीं करना है। बिना विचार या मार्ग-प्रदर्शन के सब चीज़ों को इसी गति से अधिक काल तक प्रवाहित होने देना भी ठीक नहीं है। ग्रामवासी पुरानी व्यवस्था के कुछ लाभों को तो खो चुके हैं लेकिन नई व्यवस्था की सब सुविधायें अभी उन्हें प्राप्त नहीं हुई हैं। अगर छिन्न-भिन्न होने की प्रक्रिया के साथ पुनर्निर्माण की क्रिया प्रारम्भ नहीं हो जाती तो वह अनैक्य पैदा कर देती है और नैतिक चरित्र को हानि पहुँचाती है। इस प्रकार गाँव के सामने ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें न तो पीछे जाना सम्भव है और न स्थिर रहना ही ठीक है। ऐसी स्थिति में एक यही रास्ता रह जाता है कि गाँव

को विस्तृत जीवन के पूरे दायरे के अन्दर ले आया जाय और उसे विज्ञान का लाभ पहुँचाया जाय। गाँव के अन्दर नागरिक जीवन का, उसके व्यापक अर्थ में, विकास करना और नागरिक जीवन के लाभों को पहुँचाना आवश्यक है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि गांव वालों को न केवल सिद्धान्त रूप से बल्कि व्यवहार में भी, विकास का समान सुयोग मिलना चाहिए।

सर्वप्रथम यातायात के साधनों को बढ़ाना आवश्यक है। रेलों, पक्की सड़कों, पुलों, मोटरगाड़ियों तथा स्टीमरों को बढ़ाना भारत जैसे देशों की एक प्रधान आवश्यकता है। रेडियो से गाँव की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। वह अब बहुत सस्ते में लगवाया जा सकता है। ग्रामवासी अपने झोंपड़ों में बैठकर सारे देश के ही नहीं बल्कि आधे संसार के समाचार, भाषण और संगीत सुन सकते हैं। दूसरे, सिँचाई की सुविधाओं, बढ़िया खादों, अच्छे बीजों तथा वैज्ञानिक औज़ारों के द्वारा खेती की पैदावार को बढ़ाना बहुत आवश्यक है। उदाहरणार्थ, संयुक्त-राज्य अमेरिका, जापान, बेल्जियम, कनाडा तथा अन्य स्थानों में प्रयुक्त हल खींचने के वाष्पयंत्र, जिन्हें 'ट्रैक्टर्स' कहते हैं, पैदावार को बहुत बढ़ा देते हैं और परिश्रम भो बहुत बचा लेते हैं। तीसरे, बिजली की शक्ति अब बहुत सस्ते में देहात के अन्दर पहुँ-

यातायात के साधन

कृषि-उन्नति

विद्युत्शक्ति

चाई जा सकती है। उसका उपयोग, कुँओं से सिँचाई करने तथा अनेक प्रकार की चीज़ों को उत्पन्न करने के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार घरेलू उद्योग-धन्धों के लाभों के साथ साथ सस्ती और बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ भी उठाये जा सकते हैं।

चौथे, किसान के क़ानून के द्वारा पूर्ण रक्षा और निर्विघ्नता का सुयोग मिलना चाहिए। साथ ही उसे इस योग्य होना चाहिए कि वह संसार का सामना कर सके। उसमें इतनी योग्यता होनी चाहिए कि जो लोग उसको परिश्रम के उचित पुरस्कार से वञ्चित रखना चाहते हैं उनकी साज़िशों को बेकार कर दे। पाँचवें, उसे आवश्यक आर्थिक सुविधा का, तथा शिक्षा के पूर्ण सुयोगों का उपयोग करने के योग्य होना आवश्यक है। इस बात पर ज़ोर दिया जा सकता है कि ग्रामोन्नति की योजना में उस समय तक कोई जीवन या तत्त्व नहीं रहता जब तक कि उसके अन्दर सर्वव्यापी शिक्षा की मद न शामिल हो।

रक्षा

सुयोजित और सुसंगठित प्रयत्न के द्वारा आवश्यक सुधार अपेक्षाकृत थोड़े ही समय में किये जा सकते हैं। अन्यथा उसमें कई युग लग सकते हैं, और इस बीच में निश्चय ही बड़ी मुसीबत और बरबादी हो सकती है। ग्रामीण जीवन के संगठित हो जाने पर गाँव वालों के लिए यह सम्भव हो जायगा कि वे मुल्की तथा राजनीतिक अधिकारों का उपयोग

गाँव में नागरिक जीवन

करें और तदनुवर्ती कर्त्तव्यों का पालन करें। यह केवल सिद्धान्त रूप में ही नहीं बल्कि पूर्णतः व्यवहार में भी होगा और साथ ही सबको लाभ पहुँचेगा। आगे चलकर हम देखेंगे कि प्रत्येक गाँव को अथवा आस-पास के गाँवों के प्रत्येक सङ्घ को स्वराज्य के कुछ अधिकार दे देना वाञ्छनीय होगा। इसके द्वारा कृषि, साख, बिक्री तथा शिक्षा में पर्याप्त सहयोग करने का रास्ता खुल सकता है। इस तरह गाँवों में पूर्ण नागरिक जीवन का विकास करना सम्भव होगा। गाँव का जीवन फिर नीरस नहीं रह जायगा और वह निर्धनता के भयानक भूत के चंगुल से मुक्त हो जायगा। उसमें अनेक प्रकार की मन लगाने वाली चीज़ें पैदा हो जायँगी और मानसिक उन्नति में उसका पहल की अपेक्षा अधिक समय बीतेगा। ग्राम-जीवन शिक्षित व्यक्तियों के लिए अरुचिकर न रह जायगा बल्कि निश्चयात्मकरूप से आकर्षक बन जायगा।

हम पीछे कह आये हैं कि आधुनिक काल में नागरिकता के अर्थ का विस्तार हुआ है। उसका पहला विस्तार गाँव के रहने वालों से सम्बन्ध रखता है। पहले गाँव वालों

पुरुष और स्त्रियाँ से नागरिकता का कुछ सम्बन्ध नहीं था। लेकिन आज-कल उसका सम्बन्ध नगर और ग्राम दोनों के निवासियों से हो गया है। नागरिकता के अर्थ का दूसरा विस्तार स्त्रियों से सम्बन्ध रखता है। मानव-जाति के सम्पूर्ण इतिहास पर—आदिम काल की जङ्गली अवस्था से लेकर आधु-

निक सभ्यता के युग तक के इतिहास पर—दृष्टि डालने से यह मालूम होता है कि समाज के अन्दर स्त्रियों की स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। यहाँ उन सब परिवर्तनों का वर्णन करना आवश्यक नहीं है और न उनके कारणों की जाँच करने को ही ज़रूरत है। इतना बतला देना काफ़ी होगा कि जिस समय प्राचोन रोम और यूनान में स्वराज्य का विकास हुआ था उस समय स्त्रियों को उसमें कुछ भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं था। प्रायः यह समझा जाता था—यद्यपि प्रसिद्ध दार्शनिक अफ़लातून (प्लेटो) इस मत के विरुद्ध था—कि स्त्रियों को घर के काम में ही लगी रहना चाहिए, उन्हें राजनीति मे दख़ल देना उचित नहीं है। फलतः नागरिकता के अधिकार पुरुषों को ही प्राप्त थे, स्त्रियाँ उनसे वञ्चित थीं। प्राचीन काल में संसार के अन्य देशों में भी क़रीब क़रीब यही स्थिति थी। प्रायः हर जगह स्त्रियाँ पराधीन थीं। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के पूर्व, आम तौर से विचारों में जो उथल-पुथल हुआ उसके साथ उनकी स्थिति में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ। उस समय स लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि लिङ्गभेद को बहुत महत्त्व देना ठीक नहीं है। सामाजिक जीवन के अन्दर स्त्रियों और पुरुषों के कामों में कुछ विभिन्नता तो आवश्यकरूप से रहेगी, लेकिन यह बात सत्य है कि स्त्रियों की बुद्धि उतनी ही तीव्र होती है जितनी कि पुरुषों की और उसका उतना ही विकास हो सकता है जितना कि पुरुषों को बुद्धि का। सामाजिक सेवा करने की क्षमता पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अगर

ज़्यादा नहीं, तो कम नहीं होती। वे पुरुषों की ही भाँति ठीक से निर्णय, संगठन और योजना भी कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त उनके पास अपना व्यक्तित्व है जिसे पुरुषों के व्यक्तित्व की तरह विकास के लिए पर्याप्त सुयोग की आवश्यकता है। सुयोग के न मिलने पर वह व्यक्तित्व अविकसित रह जाता और व्यर्थ हो जाता है। उसके कारण दुख और वेदना उत्पन्न होती है और जीवन का मान नीचा रह जाता है। यह कहने की शायद ही ज़रूरत हो कि माताओं, बहिनों और स्त्रियों को अशिक्षित और असहाय बनाये रखना सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की उत्तमता को कम कर देना है। इससे न केवल स्त्रियों का ही अधःपतन होता है बल्कि पुरुषों का भी। यह बात स्त्रियों और पुरुषों दोनों के लिए लज्जाजनक है। ऐसा करना सामाजिक जीवन की उन्नतावस्था में ज्ञान, विचार-बुद्धि तथा लोकहितैषणा के आधे साधनों को रोक रखना है। इसलिए आधुनिक युग का सिद्धान्त यह है कि स्त्रियाँ पुरुषों के साथ समानता के पद पर रक्खी जायँ। उनको शिक्षा की वे ही सुविधायें मिलनी चाहिएँ जो पुरुषों को प्राप्त हैं। उन्हें मास्टरी, डाक्टरी तथा वकालत आदि विभिन्न पेशों को अख़्तियार करने का अधिकार है। इसी प्रकार उन्हें पुरुषों के समान ही वोट देने और निर्वाचित होने का अधिकार मिलना चाहिए। कुछ नौकरियाँ—जैसे फ़ौजी—ऐसी ज़रूर हैं जिनमें स्त्रियाँ दाख़िल नहीं हो सकतीं, लेकिन और सब नौकरियों में निर्बाध-रूप से प्रवेश करने के लिए उनको अधिकार मिलना चाहिए।

यह ज़रूरी नहीं है कि हर एक स्त्री पेशा अख़्तियार करे। जैसा ऊपर कहा गया है मातृत्व तथा गृहस्थी का काम ख़ुद एक पेशा है।[१] किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि गृहस्थी के काम को फिर से संगठित करने, उसकी विरक्तिकरता को कम करने तथा समय को बचाने के लिए वैज्ञानिक यन्त्रों का उपयोग किया जा सकता है। स्टोव तथा कपड़ा सीने और धोने की मशीनें इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। घर का प्रबन्ध करने वाली स्त्री के लिए अब यह सम्भव है कि गृहस्थी के काम से काफ़ी समय बचाकर इर्द-गिर्द के विस्तृत जीवन में पर्याप्त भाग ले। सिद्धान्त यह है कि पुरुषों के समान स्त्रियों को भी सामाजिक तथा राजनीतिक कामों में भाग लेने का सुयोग मिलना चाहिए। वे कहाँ तक इस सुयोग का लाभ उठायेंगी इसका निर्णय वे स्वयं कर लेंगी। यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि हम विस्तार के साथ इस बात पर विचार करें कि पुरुषों और स्त्रियों के समानाधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने का क्या अर्थ होगा? केवल यह निर्देश कर देना पर्याप्त होगा कि जब तक पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी सेवा और विकास के सभी सुयोग नहीं मिलेंगे तब तक नागरिक जीवन आधुनिक अर्थ में असम्भव होगा।

नागरिकता के आधुनिक अर्थ का तीसरा विस्तार समाज के

१—देखो पीछे अध्याय ३ पृष्ठ ४७।

विभिन्न समुदायों की स्थिति से सम्बन्ध रखता है। प्राचीन काल के अनेक समाज दासता के आधार पर अवलम्बित थे। कुछ दूसरे समाज ऐसे थे जिसके अन्दर एक श्रेणी दूसरी श्रेणी के अधीन थी। इस बात का संकेत पहले ही कर दिया गया है कि इस पराधीनता और ग़ुलामी की प्रथा पहले-पहल क्यों उत्पन्न हुई? इसका कारण यह था कि आराम, अवकाश और

सामाजिक पराधीनता

जीविका के साधन या तो दुर्लभ और अरक्षित थे या उनको प्राप्ति कठिन परिश्रम के द्वारा ही होती थी। अतः दो समुदाय के बीच उनके लिए युद्ध होता था। यह बात साफ़ ज़ाहिर है कि उक्त समाजों के अन्तर्गत बहुसंख्यक स्त्रियों और पुरुषों के व्यक्तित्व का कुछ मूल्य नहीं था। अतः आत्म-विकास के लिए उनको कोई सुयोग प्राप्त न था। सामाजिक विज्ञान पराधीनता अथवा ग़ुलामी को नैतिक दृष्टि से जायज़ नहीं मानता। पूर्ण नागरिक जीवन का अर्थ यह है कि श्रेणी अथवा पद के भेद-भाव के बिना सब लोग मुल्की तथा राजनीतिक अधिकारों का उपयोग करें। असल बात तो यह है कि अब मशीनों से बहुत अधिक काम लिया जा सकता है। इसलिए सब लोग उचित परिश्रम और अवकाश के साथ वास्तविक स्वतन्त्रता का जीवन व्यतीत कर सकते हैं। दासता और पराधीनता न तो आवश्यक हैं और न वाञ्छनीय ही हैं।

सच्चा नागरिक जीवन व्यतीत करने के लिए सब लोगों को—विशेषत: हाथ से काम करने वालों को—उचित मात्रा में अवकाश मिलना बहुत आवश्यक है। अनुचितरूप से बहुत ज़्यादा देर तक काम करने से काम में कोई मज़ा नहीं रह जाता। जीवन का कार्य-क्षेत्र संकुचित हो जाता है। राजनीतिक जीवन में समुचित भाग लेने और मानसिक विकास करने के लिए कुछ समय नहीं रह जाता। इसलिए अनेक राज्यों ने अपने अपने यहाँ इस आशय का क़ानून पास कर दिया है और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों पर हस्ताक्षर भी कर दिया है कि कारख़ानों में प्रतिसप्ताह ४८ घंटे से अधिक काम न लिया जाय। लोगों को फ़ुरसत मिलनी चाहिए और साथ ही इस बात की शिक्षा भी मिलनी चाहिए कि वे फ़ुरसत के समय का उपयोग अपने लाभ के लिए करें। अगर फ़ुरसत का वक़्त शराबख़ोरी, जुआ, छिछोरपन अथवा भोग-विलास में बीतता है तो वह बेकार खो देने से भी ख़राब है। अवकाश का समय दिलबहलाव करने, मानसिक तथा कला-सम्बन्धी रुचि का विकास करने और रचनात्मक नागरिकता में भाग लेने के लिए है। अगर अवकाश न मिले तो सम्भव है कि राजनीतिक अधिकार काग़ज़ पर ही लिखे रह जायँ, व्यावहारिक जीवन में उनका पूर्ण उपयोग न हो सके।

अवकाश

इस प्रकार विदित होता है कि सच्चा नागरिक जीवन, विस्तार में विश्वव्यापी है। उसका सम्बन्ध संसार के सभी देशों की जनता से और सभी श्रेणी के लोगों से है। मज़दूर अथवा स्त्रियाँ कोई भी उसके बाहर नहीं हैं। सबको समान सुयोग मिले, इसी सिद्धान्त पर वह जीवन संगठित है।

नागरिक जीवन की व्यापकता

पाँचवाँ अध्याय

शिक्षा

अधिकारों, कर्त्तव्यों अथवा नागरिकता की विवेचना तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक शिक्षा की चर्चा न की जाय।

शिक्षा और नागरिक जीवन

शिक्षा उपयुक्त जीवन का मुख्य आधार है। ऐतिहासिक अनुभव ने भी यह साबित कर दिया है कि जीवन की गति पर—व्यक्तित्व, सुख, पारस्परिक सहयोग तथा सामाजिक सेवा पर—शिक्षा का उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना कि आर्थिक कारण का। व्यक्ति को सामाजिक बनाने के लिए, उसके व्यक्तित्व और स्वभाव आदि को समाज के बृहत् जीवन के अनुकूल करने के लिए, शिक्षा एक बड़ा साधन है। शिक्षा के कार्य का विश्लेषण करना और यह मालूम करना उचित है कि अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने के लिए उसका संगठन किस तरह करना चाहिए। अभाग्य से, शिक्षा के कार्य और स्वरूप का ठीक ठीक अभिप्राय समझने में लोगों ने अकसर ग़लती की है और इसलिए समाज को बहुत कुछ हानि हुई है। शिक्षा ने अब एक स्वतन्त्र विज्ञान का रूप धारण कर लिया है।

इस बात का पता लगाना कि जीवन की प्रगति के साथ उसका प्रयोग कैसे किया जाय, सामाजिक विज्ञान तथा राजनीति-विशारदों का महान कर्त्तव्य है।

शिक्षा का आधार

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि मस्तिष्क की कोमलता शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता का आधार है। बचपन में यह कोमलता सबसे अधिक मात्रा में होती है[1] किन्तु वह कभी पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हो जाती। छोटा बच्चा आदतों और विचारों को शीघ्र ग्रहण कर लेता है। सयाने व्यक्ति का मस्तिष्क भी विकसित होता है और अपने को जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल बनाता रहता है। अपने को परिस्थिति के अनुकूल करने की शक्ति भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न मात्रा में होती है। लेकिन मुश्किल से ही कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा जिसमें यह शक्ति बिलकुल न हो। मस्तिष्क की कोमलता और अपने को परिस्थितियों के अनुकूल करने की शक्ति दोनों एक दूसरे से मिलती-जुलती हैं और व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती हैं। उनकी सहायता से मनुष्य निरन्तर उपस्थित होने वाली आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है। यह शिक्षा का सबसे अधिक व्यापक अर्थ है। इसका प्रारम्भ जीवन के साथ होता है और जीवन के साथ ही इसका अन्त भी होता है।

१—देखो पीछे अध्याय २ पृष्ठ २१।

इस अव्यवस्थित शिक्षा में कुछ भारी त्रुटियाँ भी हो सकती हैं। सम्भव है कि मस्तिष्क की मृदुलता से अनुचित लाभ उठाया जाय, ख़ासकर बचपन में। उत्तम विकास स्वतन्त्रता की अवस्था में ही हो सकता है।

विचारों को लादने से ख़तरा

बच्चों के दिमाग़ पर रूढ़ विचारों को लादना—वे चाहे जिस तरह के हों—उन्हें स्वतन्त्रता और विकास से वञ्चित करना है। ऐसा करना शिक्षा के एक आधारभूत सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करना है। वह सिद्धान्त यह है कि बच्चों के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिए। छोटे छोटे बच्चों को सोचने-विचारने तथा तर्क करने का मौक़ा देना चाहिए। अगर उन्हें बड़ों के सभी विचारों, आदतों और रीति-रस्मों को ज्यों का त्यों, बिना किसी विचार के, ग्रहण करने के लिए विवश किया जायगा तो उनका विकास रुक जायगा। इसका मतलब यह नहीं है कि पुरानी बातों की बिलकुल उपेक्षा की जाय। मुख्य बात यह है कि बच्चे को अपना आन्तरिक विकास करने और आवश्यकता पड़ने पर अनेक दिशाओं में अपना बाह्य विकास करने का अवसर दिया जाय। जो समाज शिक्षा के इस मनोविज्ञान को नहीं समझता वह अपने स्कूलों और कालेजों को छापा ढालने की मशीन बना लेने की चेष्टा करेगा। लेकिन स्कूलों और कालेजों के न होने से यह ख़तरा और भी भारी हो जायगा। सबसे बड़ी आवश्यकता है इस बात की कि मस्तिष्क को स्वतंत्र बनाया जाय ताकि वह सामाजिक सहयोग से स्वतन्त्रतापूर्वक

अपनी प्रतिभा को नष्ट किये बिना ही विचार और योजना कर सके।

ख़तरा

अव्यवस्थित शिक्षा के मार्ग में एक दूसरा ख़तरा भी है। शिक्षा इतनी अधूरी हो सकती है कि उसकी बहुत कुछ उपयोगिता ही नष्ट हो जाय। सम्भव है कि व्यक्ति की अपर्याप्त शिक्षा का विभिन्न योग्यताओं और रुचियों के निर्बाध विकास के लिए आवश्यक नींव न पड़ने पावे। अगर उसकी शिक्षा उसकी योग्यता और सम्मान के अनुकूल न होगी तो उसकी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि बहुत-से लोगों को उस शिक्षा के प्राप्त करने की सुविधायें ही बहुत कम मिलें। प्रायः देखा जाता है कि समाज के कुछ व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त करने की बहुत ज़्यादा सुविधायें मिलती हैं और अधिकांश लोगों को जो ग़रीब हैं, बहुत कम। अगर ऐसा होगा तो बहुत-से लोगों को शिक्षा बिलकुल नगण्य होगी, उसका कुछ भी मूल्य न रह जायगा।

आज ये सब ख़तरे और अधिक चिन्तनीय हो गये हैं क्योंकि समाज का सङ्गठन बहुत अधिक जटिल हो गया है और सामाजिक समस्याओं की संख्या अधिक बढ़ गई है। संख्या के साथ ही उन समस्याओं का आकार भी अधिक बढ़ गया है। इन ख़तरों को दूर करने का एकमात्र उपाय शिक्षा को व्यवस्थित करने के लिए सम्मिलित उद्योग करना है। यह स्वीकार करना

होगा कि सम्पूर्ण शिक्षा को—उसके व्यापक अर्थ में—व्यवस्थित नहीं किया जा सकता। एक खास तरह की आवश्यक शिक्षा है जो सार्वजनिक शिक्षा के किसी विभाग के अन्दर नहीं आ सकती और जो केवल जीवन के दुख-सुख से ही प्राप्त हो सकती है। लेकिन इसके अलावा अव्यवस्थित शिक्षा की त्रुटियों को दूर करने तथा उससे अधिकतम लाभ उठाने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। शिल्प-शिक्षा की आवश्यकताओं के अतिरिक्त, स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों को स्थापित करने का यही मुख्य कारण है।

शिक्षा को व्यवस्थित करने की आवश्यकता

सार्वजनिक शिक्षा-प्रणाली का एक मुख्य उद्देश्य सामान्य सामाजिक शिक्षा की दृढ़ और सुरक्षित नीव डालनी है। इस सम्बन्ध में अनिवार्य रूप से सबसे पहला काम पढ़ने-लिखने और गणित की शिक्षा देनी है। पहले के युगों में चाहे जो अवस्था रही हो, किन्तु अब पढ़ने-लिखने की योग्यता उपयुक्त सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य है। वर्त्तमान समय की परिस्थितियों में देश के सभी स्त्री-पुरुषों में इतनी योग्यता होनी आवश्यक है कि वे पढ़-लिख सकें। सार्वजनिक शिक्षा की नीति का दूसरा विषय शिक्षा को उन सिद्धान्तों के आधार पर अवलम्बित करना है जिनका प्रतिपादन, महान् फ्रान्सीसी लेखक रूसो की पुस्तक 'Emile' के प्रकाशित होने के समय (१७६२) से, अनेक दार्शनिकों, मनोविज्ञान-

शिक्षा की नीव

वेत्ताओं तथा अध्यापकों ने किया है। शिक्षण-कला का उद्देश्य व्यक्तित्व के विकास के लिए ऐसा मार्ग दिखाना है कि उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान और कला-कौशल प्राप्त हो सके और साथ ही सहयोग एवं आचरण का अभ्यास भी बढ़ता जाय। इसी विकास का अंग है कि विद्यार्थी देखना, खोजना, प्रयोग करना, बनाना, सोचना, निश्चय करना तथा कठिनाइयों को पार करना सीखता है। उसका मस्तिष्क मुक्त होकर मनुष्य और प्रकृति की दुनिया में स्वच्छन्दरूप से विचरण करता है। अगर शिक्षा उस प्रकृति का विकास नहीं करती जो मनुष्य को जिज्ञासु बनाती और उसे सब बातों का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है तो उसका उद्देश्य, कम से कम अंशतः विफल हो जाता है।

बच्चे को सामाजिक बनाने में स्कूल भी सहायक होता है। स्कूल ऐसे तरीक़ों से उसे सामाजिक बनाता है जो और कहीं सम्भव नहीं है। बच्चे का सामाजिक जीवन की शिक्षा देने के लिए कुटुम्ब ही निश्चयरूप से सबसे बड़ा साधन है। किन्तु सदस्यों की संख्या की दृष्टि से वह अनिवार्यतः संकीर्ण है। स्कूल में यह संकीर्णता नहीं। वहाँ बच्चे का संपर्क अन्य सैकड़ों समकालीन व्यक्तियों से होता है और उसे अनुशासन के नियमों का पालन करना होता है। स्कूल सिखाता है कि किस प्रकार सबको एक साथ खेलना और काम करना चाहिए और किस तरह अपने को विभिन्न प्रकार के

बच्चे को सामाजिक बनाना

स्वभाव रखने वाले व्यक्तियों के अनुकूल बनाना चाहिए। स्कूल का जीवन प्रकृति की विलक्षणता को दूर कर देता है। इसी सामाजिक सहयोग तथा अनुभव से स्वतंत्रता तथा सामाजिक अनुशासन की उत्पत्ति होती है। बच्चे का स्वभाव ऐसा बन जाता है कि जो अच्छा या उचित होता है वही वह करता और चाहता है। जॉन रस्किन ने अपनी पुस्तक 'दि क्राउन आफ़ वाइल्ड ओलिव' में शिक्षा के इस पहलू का बहुत अच्छा वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि "सच्ची शिक्षा का सम्पूर्ण उद्देश्य लोगों को ऐसा बना देना है कि वे न केवल उचित कार्य करें बल्कि उचित कार्यों का आनन्द भी उठायें, न सिर्फ़ परिश्रमी हों बल्कि परिश्रम को पसन्द करें, न केवल विद्वान हों बल्कि ज्ञान से प्रेम रक्खें, न सिर्फ़ शुद्ध हों बल्कि पवित्रता को प्यार करें, न केवल न्यायी हों बल्कि न्याय के लिए लालायित रहें।" सम्मिलित उद्योग के द्वारा स्कूल और कालेज सहकारी जीवन का ख़ूब विकास कर सकते हैं। विद्यार्थी आपस में मिलकर अपने स्कूल और कालेज के अहाते को साफ़ रख सकते हैं, बाग़ लगा सकते हैं और अपनी चित्रशालाओं तथा अजायबघरों के लिए बहुत-सी वस्तुएँ संग्रह कर सकते हैं। वे अपनी वादविवाद-समिति, परस्पर सहायक समिति, समाज-सेवा-समिति तथा सहकारी क्रय-समिति आदि की व्यवस्था कर सकते हैं। इस प्रकार विचार और आचरण के उच्च आदर्श अपने सामने रखकर वे सुखपूर्वक सामूहिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। शिक्षण-संस्थायें

विद्यार्थियों के अनुभव को बढ़ा सकती हैं और उनकी रुचियों का विकास कर सकती हैं। उन्हीं से सुखी और सुसंगठित सामाजिक जीवन का विकास हो सकता है। विद्यार्थी-जीवन की मित्रता और उत्साह कभी कभी लोगों को ऐसे काम में जीवन व्यतीत करने के उपयुक्त बना देता है जो सार्वजनिक दृष्टि से उपयोगी होता है।

ज्ञान

सार्वजनिक शिक्षा की प्रत्येक सुन्दर प्रणाली का उद्देश्य केवल ज्ञान का वितरण करना नहीं होता बल्कि उसकी उन्नति करना भी होता है। स्कूल और विश्वविद्यालय दोनों, विज्ञान, दर्शन और कला के ज्ञान का प्रसार करते हैं। विश्वविद्यालय तथा अन्य विद्वत्समितियाँ अनुसंधान, ध्यानपूर्वक निरीक्षण, प्रयोग, अध्ययन और विचार के द्वारा ज्ञान की उन्नति करने का भी प्रयत्न करती हैं। वे समाज को सभ्य, तथा बुद्धिसम्पन्न बनाने में योग देती हैं। वे कार्य के विस्तार को बढ़ाती और जीवन को ऊपर उठा देती हैं।

व्यावसायिक शिक्षा

सार्वजनिक शिक्षा की प्रणाली में अनेक प्रकार की—कृषि, उद्योग-धंधे, इंजीनियरिंग, वाणिज्य-व्यापार, क़ानून, बैङ्किंग, चिकित्सा, अध्यापन तथा पत्रकार-कला आदि—व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था शामिल है। व्यावसायिक शिक्षण-संस्थायें प्रायः ज्ञान का विस्तार करती हैं और उनका उपयोग ज्ञान की उन्नति के लिए भी हो सकता है।

सार्वजनिक शिक्षाप्रणाली को एक बहुत विस्तृत आधार पर अवलंबित करना चाहिए ताकि उससे अधिक से अधिक लाभ हो सके। विशुद्ध शिक्षा की दृष्टि से तथा अन्य दृष्टि-कोणों से भी, जिनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है, कम से कम पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था तक सब लड़कों और लड़कियों को अनिवार्य शिक्षा मिलनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि व्यावसायिक शिक्षा का द्वार उन सब लोगों के लिए खुला रहना चाहिए जो उसमे लाभ उठाना चाहें। तीसरे, बहुत-से युवक पुरुषों और स्त्रियों को विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने के लिए पर्याप्त सुविधा देनी चाहिए। चौथे, प्रारम्भिक शिक्षा के परिणामों को सुरक्षित रखने और उसके क्रम को जारी रखने के लिए माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था बड़े भारी पैमाने पर करनी चाहिए। जिन जातियों या समाजों में अभी तक बच्चों की शिक्षा का आधार विस्तृत नहीं रहा है उनमें माध्यमिक शिक्षा के प्रचार के लिए और अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। अन्त में सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली को पूर्ण करने के लिए पुस्तकालय, विद्वत्समितियाँ, अजायबघर तथा चित्रशालायें आदि आवश्यक हैं।

सर्वव्यापी शिक्षा

सर्वव्यापी शिक्षा का प्रबन्ध समाज का सबसे बड़ा और महत्त्व-पूर्ण कार्य है। इसके लिए आवश्यकता है इस बात की कि एक बहुत बड़े पैमाने पर सम्मिलित उद्योग किया जाय। जो देश अभी

तक शिक्षा में पिछड़े हुए हैं उन्हें ख़ास तौर से शिक्षा के प्रचार के लिए संगठित आन्दोलन करना चाहिए और जल्दी अपनी कमी को पूरा कर लेना चाहिए। राज्य को इस प्रकार स्पष्टरूप से प्रतिज्ञाबद्ध होकर तैयार रहना चाहिए मानो कि उसका अस्तित्व ही शिक्षा के लिए है। जिन लोगों के हाथ में शासन का भार सौंपा गया हो उनको शिक्षा पर सबसे पहले ध्यान देना चाहिए और उसके लिए अधिक से अधिक उद्योग करना चाहिए। राज्य के कोष से सबसे पहले शिक्षा-प्रचार के लिए ही धन मिलना चाहिए। लोकमत को चाहिए कि इस बात को ख़ूब अच्छी तरह से समझ ले और सरकार पर इस बात का ज़ोर डाले कि वह निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की प्रणाली को संतोषप्रदरूप से संचालित करे और उच्च, माध्यमिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के लिए पूर्ण व्यवस्था करे। म्यूनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, तालुक़ा बोर्ड तथा ग्राम-पंचायतों को भी केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारों के सहयोग से उसी सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए। और लोगों को भी व्यक्तिगतरूप से अपनी शक्ति भर इसके लिए यत्न करना चाहिए। उन्हें अपने मन में यह समझ लेना चाहिए कि लोगों के दुख को दूर करने के लिए और किसी प्रकार का दान उतना अधिक कार्यकर नहीं है जितना कि शिक्षा-प्रचार के लिए दिया हुआ धन। इस सम्बन्ध में जनता का एक और कर्त्तव्य है और इस कर्त्तव्य को ठीक से

शिक्षा-प्रचार में सहयोग

समझने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों को हृदयङ्गम कर लिया जाय। किसी सम्प्रदाय या श्रेणी को स्कूलों और कालेजों पर अपने विश्वासों, विचारों और सिद्धान्तों को हठपूर्वक लादने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। विद्यार्थियों के मस्तिष्क को इन सब बातों से मुक्त रखने का उद्देश्य इतना मूल्यवान् है कि साम्प्रदायिक स्वार्थों के लिए उसका बलिदान नहीं किया जा सकता। विश्वविद्यालयों में विचार और अनुसन्धान की सबसे अच्छी उन्नति उसी अवस्था में हो सकती है जब वे दूसरों के इच्छानुसार चलने के लिए बाध्य न किये जायँ।

अगर शिक्षा का समुचित संगठन किया जाय और समाज भर में उसका प्रचार किया जाय तो वह जीवन को बहुत अधिक अच्छा बना दे। सबको समान

शिक्षा से आशायें सुयोग देने के लिए—जो कि नागरिक जीवन

का सार है—शिक्षा अन्य सभी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक प्रभाव-पूर्ण सिद्ध होगी। कुछ समस्यायें जो अशिक्षा और अज्ञान की अवस्था में सुधारकों के प्रयत्नों को विफल बना देती हैं, इसकी बदौलत प्रायः अपने आप ही सुलझ जायँगी। शिक्षा के प्रचार से समाज में बहुत-से वैज्ञानिक, विचारक, संगठन-कर्त्ता, राजनीतिज्ञ, लोक-हितैषी—स्त्री और पुरुष दोनों—पैदा हो जायँगे और वे सभ्यता में अधिक उन्नति करेंगे।

———

छठा अध्याय

कुटुम्ब

सामाजिक जीवन अपने को बहुसंख्यक संस्थाओं के द्वारा व्यक्त करता है। संस्था स्वीकृत रीति-रवाज अथवा प्रथा है जो सामाजिक जीवनरूपी यंत्र का एक पुर्जा या अंग है अनेक संस्थाओं का समुदायों के द्वारा साकार व्यक्तीकरण होता है। इस प्रकार समुदायों की गिनती सामाजिक जीवन के बड़े बड़े साधनों में होती है। ये समुदाय इतने छोटे हो सकते हैं कि उनमें केवल दो ही तीन व्यक्ति शामिल हों; या इतने बड़े हो सकते हैं कि देश के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्ति उनके अन्दर आ जाते हों। ऐसे समुदाय भी हो सकते हैं जिनके अन्दर सम्पूर्ण मानव-जाति आ जाय। कुछ समुदाय ऐसे हैं जो प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुए हैं। ये उन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जो मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति से उत्पन्न होती हैं। कुटुम्ब एक ऐसा ही समुदाय है। इसके द्वारा बच्चों का पालन-पोषण होता है और सृष्टि का क्रम जारी रहता है। जो संस्था कुटुम्ब में अङ्गीभूत है वह मनुष्य से भी पहले की है। वह अनेक जाति के पशुओं में अविकसित अवस्था में पाई जाती है। किन्तु यहाँ

कुटुम्ब की विशेषतायें

हमें केवल मानव-कुटुम्ब से सम्बन्ध है। मनुष्य-विज्ञान के जानने वाले, जिन्होंने कि मानव-समाज की आदिम अवस्था का अध्ययन किया है, बतलाते हैं कि मनुष्य हमेशा किसी न किसी प्रकार के कुटुम्ब में रहा है। इस कुटुम्ब का रूप एक युग से दूसरे युग में अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान में बदलता रहा किन्तु उसकी मुख्य मुख्य विशेषतायें एकाध अपवादों को छोड़कर, सब युगों और स्थानों में एक ही-सी रही हैं। कुटुम्ब में पति, पत्नी तथा उनके बालबच्चे शामिल होते हैं। इस कुटुम्ब के अन्दर पुरुष और स्त्री दोनों अपने को एक संयुक्त और घनिष्ठ जीवन में मग्न कर देते हैं। बच्चे भी उसी सम्मिलित जीवन में भाग लेने के लिए पाले-पोसे जाते हैं। ऐसे कुटुम्ब भी आसानी से दिखाये जा सकते हैं जिनमें फूट पैदा हो गई है या कलह होता है, जिनमें पति और पत्नी के बीच प्रेम नहीं है या जहाँ बच्चों की उपेक्षा की जाती है, और उनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता है। किन्तु ऐसे कुटुम्ब बहुत कम मिलेंगे। अधिकांश कुटुम्बों में ये बातें नहीं पाई जातीं। जो कुछ भी हो, हीन दर्जे का कुटुम्ब अपने आदर्श से गिर गया है। उसकी यह दशा प्रायः प्रतिकूल आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में पड़ने से हो गई है। यह भी सम्भव है कि किसी सदस्य-विशेष के मिज़ाज की ख़राबी ही के कारण कुटुम्ब की हालत ख़राब हो गई हो। सामान्यतः कुटुम्ब, एक ऐसे संयुक्त जीवन का आदर्श रूप है जिसमें सब एक दूसरे

से प्रेम और घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और मनोयोगपूर्वक बच्चों की सेवा की जाती है।

कुटुम्ब एक प्राकृतिक और कभी न नाश होने वाला छोटा-सा संगठित समुदाय है। वह जीवन के कुछ बहुमूल्य गुणों के विकास में सहायक होता है। अपने बच्चों के आराम और सुभीता का इन्तज़ाम करने के लिए बहुत-से पिता तमाम दिन कठिन परिश्रम करते हैं। इसी चिन्ता में कभी कभी उन्हें रात में नींद नहीं आती। अगर पिता ग़रीब है तो वह अपने बच्चों की पढ़ाई का खर्च देने के लिए कठोर आत्म-त्याग दिखलाता है, अपने आराम और सुविधा की कुछ भी परवाह नहीं करता। माता अपने बच्चों को जिस क़दर प्यार करती है और दिन-रात जिस तन्मयता के साथ उनकी सेवा-शुश्रूषा में लगी रहती है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता[१]। उसका जीवन तो वीरतापूर्ण त्याग और निःस्वार्थ प्रेम का प्रायः एक महाकाव्य ही है। अपने बच्चों की देख-भाल करने में वह इतनी व्यस्त दिखाई पड़ती है कि मालूम होता है कि वह उन्हीं के लिए जीती है। छोटे छोटे दुधमुँहे बच्चों को एकदम असहाय अवस्था में देख-

कौटुम्बिक स्नेह

१—ईश्वर से भी प्यारा होता,
है माँ को बच्चे का नाम।
बड़े प्रेम से इसी लिए तो,
रटती है उसको अविराम।—भजनसिंह

कर हृदय में बड़ी महानुभूति उत्पन्न हो जाती है। जैसे जैसे बड़े होते हैं वे भावों का आदान-प्रदान करते हैं और अपने माता-पिता को—विशेषतः माता को—हृदय से प्यार करने लगते हैं। अपवादों को छोड़कर कौटुम्बिक जीवन की क़रीब क़रीब यही सामान्य प्रवृत्ति चारों ओर दिखाई पड़ती है। कभी कभी प्रतिकूल प्रभाव के कारण इसके विरुद्ध कार्य किया जाता है किन्तु समष्टिरूप से विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह प्रवृत्ति एक प्रबल धारा के रूप में सदा प्रवाहित होती रहती है। वास्तव में कुटुम्ब एक पाठशाला है जहाँ सबको एक दूसरों से प्रेम करने की शिक्षा मिलती है। वह बचपन में ही स्नेह के भाव को दृढ़रूप से जाग्रत कर देता है और प्रायः उसे जीवन की एक स्थायी विशेषता बना देने का यत्न करता है। अगर स्नेह का अभाव हो तो मनुष्य का जीवन नीरस हो जाय। बहुत सम्भव है कि ऐसा जीवन लोगों को असह्य हो जाय। हृदय में जब एक बार सहानुभूति और प्रेम के भावों का विकास हो जाता है तो वे कुटुम्ब की सीमा को लाँघ कर अन्य बड़े बड़े समुदायों—जाति, देश आदि—तक पहुँच जाते हैं। इन्हीं भावों के कारण एक दूसरे के बीच मित्रता उत्पन्न होती है। अगर यह मित्रता न हो तो जीवन ही अपूर्ण रह जाय। वे भाव सामाजिक एकता को दृढ़ करते हैं और उन सम्बन्धों को जीवन प्रदान करते हैं जो अन्यथा फीके और नीरस रह जायँ। जैसा कि मैज़िनी ने कहा था, "नागरिकता का प्रथम पाठ

माता के चुम्बन तथा पिता के लाड़-प्यार के बीच ही सीखा जाता है।"

किन्तु कुटुम्ब हमारे सामने कुछ मनोवैज्ञानिक प्रश्नों को उपस्थित करता है। जहाँ कहीं दो या अधिक व्यक्ति एक साथ रहते हैं उन्हें एक दूसरे के साथ अपने मिजाजों, आदतों और शायद हितों का भी सामञ्जस्य करना पड़ता है। अगर प्रत्येक व्यक्ति निरङ्कुश-रूप से केवल अपने ही इच्छानुसार चले तो सामूहिक अथवा सामाजिक जीवन शायद ही सम्भव हो। कुटुम्ब के बारे में सबसे बड़ी बात यह है कि उसका प्रेम-भाव पारस्परिक सामञ्जस्य को अपेक्षाकृत अधिक आसान और सुखद बना देता है। तो भी जीवन की गर्दिश की वजह से कभी कभी उस सामञ्जस्य के लिए कठिन प्रयास करना पड़ता है। सामञ्जस्य करने की बान पहले पहल कुटुम्ब के अन्दर ही पड़ती है। कुटुम्ब ही, अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की आदत को दृढ़ करता है। साधारणतः सामाजिक जीवन में इस आदत की आवश्यकता होती है। कुटुम्ब व्यक्ति को स्वार्थ के घेरे से बाहर निकाल कर भक्ति, सहयोग तथा परमार्थ के जीवन में प्रवेश कराता है। वह हमें इस बात की शिक्षा देता है कि सार्वजनिक कल्याण के लिए सङ्गठन और नियमन का काम किस प्रकार करना चाहिए। वह भविष्य के लिए हमारे हृदय में आशाओं और आकांक्षाओं को जाग्रत करता है। एक सुव्यवस्थित कुटुम्ब

सामञ्जस्य कुटुम्ब में

स्वतः, बिना किसी उद्योग के, दूसरे के अधिकारों का आदर करना सिखाता है। वह बच्चों को बड़ों के जीवन के आनन्दों, चिन्ताओं तथा व्यवसायों के सम्पर्क में लाता है।

कुटुम्ब एक बड़े शिक्षालय का भी काम देता है। मनोविज्ञान के सबसे नये अनुसन्धानों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि शिक्षा की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के प्रथम पाँच वर्ष अथवा शायद प्रथम तीन वर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है[1] कि बच्चा अनिवार्यतः कुटुम्ब के विचारों, भावों, रहन-सहन के तरीक़ों तथा आदतों को ग्रहण कर लेता है। यहीं मार्जित रुचियों का विकास होता है। यहीं ज्ञान की बहुत-सी बातें और मनोवृत्तियाँ ग्रहण की जाती हैं। यहीं उन आकांक्षाओं का विकास होता है जो जीवन भर साथ नहीं छोड़तीं। जॉन स्टुवर्ट जैसे अनेक व्यक्ति ऐसे हो गये हैं जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण शिक्षा की ही नहीं बल्कि पूर्ण जीवन की नींव कुटुम्ब में ही डाली थी। छोटे पिट जैसे राजनीतिज्ञों ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को कुटुम्ब में ही सीखा था। संसार के महान व्यक्तियों के जीवनचरित्र को पढ़ने से ही यह ज्ञात हो जायगा कि उनमें से अधिकांश पर माता-पिता की शिक्षा, उपदेश तथा उदाहरण का कितना अधिक प्रभाव पड़ा था। अगर साधारण अभागे व्यक्तियों के जीवनचरित लिखे

कुटुम्ब-शिक्षा

१—देखो पीछे अध्याय ५ पृष्ठ ८९

गये होते तो यह मालूम हो जाता कि उनके जीवन को नष्ट करने में कुटुम्ब के बुरे प्रभावों का कितना अधिक हाथ था।[१]

कुटुम्ब एक बहुत महत्त्वपूर्ण आर्थिक साधन भी है। वह समष्टिरूप से धन को कमाता और खर्च करता है। कुटुम्ब का पालन करना विविध प्रकार से धनोपार्जन करने का एक प्रधान उद्देश्य है। अकसर कुटुम्ब में एक ही पेशा पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। खेती करने का पेशा ज्यादातर पुश्तैनी है। इसी तरह और भी कई पेशे हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं प्रत्येक आदमी को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपने पसन्द का पेशा चुने। किन्तु कुटुम्ब का प्रभाव इतना प्रबल होता है कि बहुत-से लोग अपने बाप-दादों के पेशे को ही अख्तियार करते हैं।

कुटुम्ब आर्थिक साधन है

१—हाल में इस विषय का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया गया है। विभिन्न अन्वेषकों ने घर के विभिन्न पहलुओं—कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति, माता-पिता का स्वभाव, उनका व्यवसाय, उनका नैतिक आचरण, उनका पारस्परिक संबंध, घर की सफ़ाई आदि का अनुशीलन किया है। इस अध्ययन-अनुशीलन के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ है कि जिन घरों और कुटुम्बों की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है, वातावरण शान्त होता है, माता-पिता ईमानदार और बुद्धिमान् होते हैं, उनके सम्बन्ध अच्छे होते हैं। उन कुटुम्बों के लड़कों का स्वास्थ्य अच्छा होता है, बुद्धि तेज़ होती है। स्कूल तथा व्यवसाय में वे सफल होते हैं, अधिक योग्य तथा प्रतिभाशाली होते हैं।

कुटुम्ब अपने कर्त्तव्यों का पालन सर्वोत्तमरूप से कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसके चारों ओर अनुकूल परिस्थितियाँ हों। एक बार फिर वही बात आ

कुटुम्ब के लिए उपस्थित होती है कि उपयुक्त जीवन के लिए अनुकूल अवस्थाएँ शिक्षा अनिवार्य है। शिक्षित कुटुम्ब उपयुक्त सामाजिक जीवन का आधार है। माता और पिता दोनों को सुशिक्षित होना चाहिए और बच्चों को शिक्षा की सभी सुविधायें दी जानी चाहिएँ। दूसरी आवश्यकता आवश्यक आर्थिक सुविधा की है। निर्धनता न केवल कुटुम्ब के दुख का कारण बनती है बल्कि उसमें कलह भी उत्पन्न होता है। कुटुम्ब के लोग इसकी सबब से एक दूसरे के साथ लड़ते झगड़ते रहते हैं। इस प्रकार यह भी सम्भव है कि यह निर्धनता स्नेह, प्रेम और सहानुभूति के उन भावों का, जो कुटुम्ब के लिए स्वाभाविक बतलाये गये हैं, विकास न होने दे। गरीबी, बच्चों के समुचित पालन-पोषण तथा शिक्षा आदि में भी रुकावट पैदा कर सकती है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि कोई कुटुम्ब आवश्यक आर्थिक सुविधा से वंचित न रहने पावे। प्रत्येक कुटुम्ब को पर्याप्त मात्रा में बढ़िया भोजन-वस्त्र, रहने का मकान तथा अन्य सुविधाएँ अवश्य मिलनी चाहिए। आवश्यक आर्थिक सुविधा का यह अधिकार, जिसके साथ काम करने का कर्त्तव्य भी लगा हुआ है, कुटुम्ब की दृष्टि से उतना ही मूल्यवान है जितना कि सार्वजनिक दृष्टिकोण से। सुन्दर कौटुम्बिक

जीवन के लिए तीसरी अनुकूल अवस्था यह है कि उसके वास्तविक रूप और आवश्यक सामञ्जस्यों को ठीक ठीक समझने की कोशिश की जाय। सम्भव है कि कोई अतिशय अहंवादी व्यक्ति कौटुम्बिक जीवन के वास्तविक रूप को न समझने के कारण दूसरों के मिज़ाज के साथ अपने मिज़ाज का सामञ्जस्य करने के लिए न तैयार हो और उनसे ज़बरदस्ती अपने मन की बात कराने का आग्रह करे। इस प्रकार के आचरण से कुटुम्ब में भीषण कलह उत्पन्न हो सकता है, अथवा कुटुम्ब के दूसरे व्यक्तियों का व्यक्तित्व दब सकता और विकृत हो सकता है। जो पिता अनुचित रूप से अपनी हुकूमत रखने का प्रयत्न करता है वह अपने बच्चों को पाखण्डी बना देता है। चौथे, पूर्ण कौटुम्बिक जीवन स्त्री की पराधीनता के आधार पर सङ्गठित नहीं किया जा सकता। वह तो केवल पुरुष और स्त्री दोनों की समानता के आधार पर ही अवलम्बित रह सकता है। विवाहित जीवन में प्रवेश करने वाले सभी लोगों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस बात को अच्छी तरह से समझ लें कि कुटुम्ब एक सामूहिक जीवन है और उसमें सभी को अपना अपना व्यक्तित्व एक साथ मिला देना होता है। साथ ही कौटुम्बिक जीवन के प्रगाढ़ सामञ्जस्य के लिए यह भी वाञ्छनीय है कि कोई अपनी योग्यता पर अधिक ज़ोर डालने की चेष्टा न करे। ऐसे संयुक्त कुटुम्ब में जिसके अन्दर दो से अधिक पीढ़ियाँ शामिल हों और एक ही पद के दो या

अधिक दम्पति हों, सबके मिज़ाज पर भारी धक्का पहुँचता है और इसलिए सबको एक दूसरे के मिज़ाज के साथ और अधिक सामञ्जस्य करने की आवश्यकता होती है। संयुक्त कुटुम्ब घर की शान्ति को एकदम से भङ्ग कर सकता है और सदा कलह और अनैक्य का साधन बना रह सकता है। इस फूट से कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति दुखी हो सकता है[1] और बच्चों का नैतिक विकास भी बहुत कुछ रुक सकता है। प्रत्येक अवस्था में, बड़ा संयुक्त कुटुम्ब पति और पत्नी के बीच एक दीवार-सा बनकर खड़ा हो जाता है और उनका घनिष्ट आत्मिक मिलन नहीं होने पाता। यह ज़रूर है कि वह बेकारी और बुढ़ापे की अवस्था में बीमा का काम दे सकता है। किन्तु इसके साथ ही वह आश्रितों में दायित्व के भाव को कम कर देता है और उन्हें आलसी बना देता है। जो कुछ हो, यह बात महत्त्वपूर्ण है कि वर्तमान जीवन की आर्थिक शक्तियों में बड़े संयुक्त कुटुम्ब को तोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

१—जग में घर की फूट बुरी।
घर की फूटहि सों बिनसाई सुवरण लंकपुरी ॥
फूटहि सो सब कौरव नासे, भारत युद्ध भयो।
जाको घाटो या भारत में अब लौं नहिं पुरयो ॥
फूटहि सों जयचन्द बुलायो यवनन भारत-धाम।
जाको फल अब लौं भोगत सब आरज होइ गुलाम ॥
जो जग में धन मान और बल अपुनो राखन होय।
तो अपने घर में भूलेहू फूट करो मति कोय ॥

समाज का कर्त्तव्य है कि वह कौटुम्बिक जीवन के ऐसे आदर्श प्रस्तुत करे जिनके द्वारा आवश्यक सामञ्जस्य सहज ही में हो जायँ और अनावश्यक सामञ्जस्यों से छुटकारा मिल जाय। समाज को इस बात का निरीक्षण करने का भी अधिकार है कि प्रत्येक कुटुम्ब अपने कर्त्तव्यों का पालन तो समुचितरूप से करता है, अपने किसी सदस्य पर अन्याय या अत्याचार तो नहीं करता। समाज का कर्त्तव्य है कि क़ानून बनावे और एक सदय लोकमत पैदा करे ताकि स्त्रियों और बच्चों पर किये जाने वाले अत्याचार को रोका जाय और अपराधी को दण्ड दिया जा सके। समाज को इस बात पर भी निगाह रखने का अधिकार है कि बच्चों को जो आगे चलकर नागरिक होंगे, समुचितरूप से शिक्षा दी जाती है कि नहीं। माता-पिता को अपनी जिम्मेदारियों की उपेक्षा करने देना बड़ा घातक होगा। यह देखना भी उतना ही आवश्यक है कि कुटुम्ब अपने सदस्यों को सामाजिक कर्त्तव्यों से विमुख तो नहीं करता। कुटुम्ब प्रकृति का बनाया हुआ एक सङ्कुचित गुट्ट है। किन्तु जैसा ऊपर की हुई विवेचना से मालूम हुआ होगा, उच्च कोटि का व्यापक सामाजिक जीवन, स्वयं कुटुम्ब के निजी हितों के लिए आवश्यक है। अगर समाज समष्टिरूप से अज्ञान, निर्धनता और अन्ध-विश्वास में डूबा हुआ है तो कोई भी कुटुम्ब उस सारे सुख को, जिसके योग्य वह है, प्राप्त करने की आशा नहीं कर

कुटुम्ब और समाज

सकता। समाज में कोई स्वतन्त्र कुटुम्ब नहीं है। सभी कुटुम्ब अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक दूसरे पर आश्रित हैं और सार्वजनिक कार्य के लिए उन्हें आपस में सहयोग करना होता है। यदि कुटुम्ब अपने सभी सदस्यों की समस्त सहानुभूति और प्रेम पर एकाधिकार कर लेता है और इस प्रकार उनको दूसरे कुटुम्बों के व्यक्तियों का सहयोगी न बनाकर प्रतिद्वन्द्वी बना देता है तो वह अन्याय करता है। कुटुम्ब का धर्म सामाजिक कल्याण में सहयोग प्रदान करना है न कि केवल अधिक से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करना। कुटुम्ब-द्वारा जाग्रत प्रेम को यह अवसर मिलना चाहिए कि वह सामाजिक सहानुभूतियों को प्रगाढ़ और सजीव बनावे। दूसरे कुटुम्बों के अथवा यों कहिए कि साधारण समाज के हितों को अपने कुटुम्ब की वेदी पर बलिदान करना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को निश्चयात्मकरूप से अपनी शक्ति और योग्यता भर सम्पूर्ण समाज की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। व्यक्ति की तरह कुटुम्ब भी अपने सामने यह आदर्श वाक्य रख सकता है, "तुम दूसरों के साथ वैसा ही करो जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें।"

कौटुम्बिक जीवन के सम्बन्ध में एक बात और है जिसमें सावधानी की ज़रूरत है। इस सावधानी का विषय युवावस्था तथा वृद्धावस्था का सम्बन्ध है। युवावस्था के आ जाने पर

युवक अकसर अपने से बड़ों के दृष्टिकोण को समझ नहीं पाते। वे नियंत्रण और अनुशासन से खीझते हैं। जिनकी बुद्धि कुछ सजग है उनसे अगर यह कहा जाय कि बड़े-बूढ़ों के दृष्टिकोण तथा धार्मिक और राजनीतिक विचारों का अनुसरण करो तो वे नाराज़ हो जायँगे। कभी कभी वे उन क्रियात्मक तथा विचारात्मक नये आन्दोलनों से बड़ी सहानुभूति रखते हैं जिनका बड़े-बूढ़ों पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। परिपक्व निर्णय-बुद्धि तथा अनुभव से वंचित होने के कारण वे उद्दण्ड और आवेगपूर्ण काम कर सकते हैं। बड़े-बूढ़े लोग, संभव है कि युवावस्था की प्रेरणाओं और आकांक्षाओं को पसन्द न करें, यद्यपि वे स्वयं किसी समय युवक रह चुके हैं। वे युवकों के विचारों को अच्छे रास्ते पर ले जाने के बदले विचारशून्य विद्रोह के चिह्न समझ कर उनका दमन करने की कोशिश कर सकते हैं। युवावस्था और वृद्धावस्था का यह संघर्ष सदा से होता आया है और नित्य की घटना है। युवकों का आन्दोलन उसका एक आधुनिक रूप है। इस आन्दोलन का विकास यूरोप में हुआ है। यह पुराने आदर्श की जगह यह आदर्श रखता है कि जीवन-क्षेत्र में युवक बुड्ढों का मार्ग-प्रदर्शन करें।

बुढ़ापा और युवावस्था

बुड्ढों तथा युवकों में जो विभिन्नतायें हैं वे कालान्तर से दूर हो जाती हैं किन्तु कभी कभी उनके कारण बड़ी कटुता पैदा हो जाती है और व्यक्तित्व का दमन हो जाता है। अतः

यह वाञ्छनीय है कि ठीक ठीक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर दोनों के बीच मेल या समझौता कराया जाय।

समझौता

युवकों को साधारणत: सभी विषयों पर अपने निजी विचारों का विकास करने देना चाहिए। अगर बड़े-बूढ़े उन्हें सलाह दें या रास्ता दिखायें तो युवकों का भला ही होगा। किन्तु अन्त में अपने विश्वासों को स्थिर करना उनका ही काम होगा। वास्तव में उन्हें स्वतन्त्ररूप से सोचने-विचारने के लिए उत्साहित करना चाहिए। यह शिक्षा के उन सिद्धान्तों के अनुकूल हो है जिनकी विवेचना ऊपर की गई है। जहाँ तक आचरण का सम्बन्ध है, युवकों को जब तक कि वे प्रौढ़ावस्था को न पहुँच जायँ बड़ों के नियंत्रण में ही रहना चाहिए। उनके काम का परिणाम समाज के लिए तथा स्वयं उनके भविष्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है। अगर यह कार्य अपरिपक्व विचार तथा अपर्याप्त अनुभव पर अवलंबित होगा तो उससे बड़ी हानि और बड़े ख़तरे की संभावना होगी। इसलिए कार्य के सम्बन्ध में नाबालिगों को उतनी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती जितनी स्वतन्त्रता उन्हें विचार करने के लिए दी जा सकती है। किन्तु इसके साथ ही बड़े-बूढ़ों को यह भी उचित है कि वे लड़कों को उस सीमा तक काम करने की स्वतन्त्रता दें जहाँ तक किसी के अहित होने की संभावना न हो। बालिग़ हो जाने पर, उनके ऊपर अपनी देख-रेख की सारी ज़िम्मेदारी

छोड़ी जा सकती है। इस दशा में उन्हें बिना किसी दबाव या नियंत्रण के बड़ों से यथासम्भव सब तरह की सलाह मिलनी चाहिए। वयस्क युवकों के जीवन को नियमित करने का प्रयत्न बहुधा आत्म-विकास के सिद्धान्त के प्रतिकूल सिद्ध होता है। इससे यह नतीजा निकला कि जो लोग यह अधिकार चाहते हैं कि हम काम करने के लिए स्वतन्त्र कर दिये जायँ उन्हें आर्थिक दृष्टि से माता-पिता अथवा अन्य व्यक्तियों पर निर्भर नहीं होना चाहिए।

कुटुम्ब और नागरिक जीवन

ऐसा कुटुम्ब जो शिक्षित हो, जिसकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो, जो अनुकूल सामाजिक वातावरण में स्थित हो और जिसमें नियंत्रण के साथ स्वतन्त्रता का सामञ्जस्य हो वह जीवन को ख़ूब सुन्दर और सुखमय बना देगा। ऐसा कुटुम्ब व्यापक नागरिक जीवन के विकास का केवल एक प्रारम्भिक स्थान ही नहीं बल्कि उसका एक अन्तर्भूत अंग होगा। भाग्य के उलट-फेर के साथ जब निराशा या दुख का समय उपस्थित होगा तो वह एक शरण-स्थल सिद्ध होगा और उससे उत्तेजना प्राप्त होगी।

सातवाँ अध्याय

समुदाय

कुटुम्ब एक इतना अधिक महत्त्वपूर्ण समुदाय है कि उसकी विवेचना एक अलग अध्याय में करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

समुदायों का कार्य

किन्तु यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि और भी बहुत-से समुदाय हैं। सामाजिक जीवन जितना ही सम्पन्न और बहुमुखी होगा समुदायों की संख्या उतनी ही अधिक होगी। परिस्थिति से जो उत्तेजना मिलती है उसी के अनुसार व्यक्तित्व का विकास होता है। जैसे जैसे इसका विकास होता है अनेक प्रकार से दूसरों पर इसकी प्रतिक्रिया होती है और इस पर दूसरों की प्रतिक्रिया होती है। इनमें से कुछ प्रतिक्रियायें न्यूनाधिक देर तक ठहरती हैं। इसलिए कुछ सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। ये प्रतिक्रियायें संस्थाओं तथा समुदायों में अंगीभूत हैं।[1] प्रत्येक समुदाय का कार्य व्यक्तित्व के किसी अंश के विकास के लिए सुविधायें प्रदान करना और इस प्रकार किसी सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करना है। कोई एक समुदाय व्यक्तित्व की सब शक्तियों का विकास नहीं

१—देखो पीछे अध्याय ६ पृष्ठ ९९।

कर सकता। समुदायों की अनेकता तथा बहुरूपता का यही कारण है।

अधिकार-क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से समुदाय एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कुछ समुदाय तो किसी गाँव या नगर की सीमाओं के अन्दर सीमित होते हैं। कुछ समुदाय पूरे ज़िले या प्रान्त में फैले हुए होते हैं। कुछ समुदाय देशव्यापी होते हैं। कुछ समुदाय ऐसे भी हैं जो राजनीतिक सीमाओं के बंधन में नहीं होते। उनका विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय होता है। एक ही व्यक्ति अनेक समुदायों का सदस्य हो सकता है। समुदाय स्वयं एक दूसरे से संग्रथित हैं। वे एक दूसरे पर अनेक प्रकार के प्रभाव डालते हैं।

समुदायों का क्षेत्र

संगठन की दृष्टि से सभी समुदाय एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कुछ समुदाय ऐसे हैं जो बाह्य आडम्बरों से पूर्णरूप से अथवा क़रीब क़रीब पूर्णरूप से मुक्त होते हैं और कुछ थोड़े से ही विश्वासों अथवा शिष्टाचारों पर अवलम्बित हैं। असंगठित समुदायों से उनका भेद शायद ही किया जा सके। कुछ समुदाय ऐसे हैं जिनका संगठन बहुत कड़ा होता है और जिनके शासन का एक नियमित यंत्र होता है। ये दोनों प्रकार के समुदाय दो सिरों पर स्थित हैं। उनके बीच और भी बहुत तरह के समुदाय होते हैं। कुछ समुदायों में छोटे छोटे

समुदायों का संगठन

समुदाय सम्मिलित होते हैं। ये बड़े समुदायों के संगठन के अंग होते हैं। इन छोटे छोटे समुदायों में और भी अधिक छोटे समुदाय शामिल होते हैं। समुदायों का इस प्रकार समाज में एक जटिल जाल फैला हुआ होता है। उसकी जटिलता से यह परिणाम निकालना आसान है कि यद्यपि अनेक समुदाय पर्याप्त रूप से स्थायी होते हैं किन्तु ऐसा कोई नहीं होता होगा जो बिलकुल स्थिर और स्थायी हो। अकसर पुराने सदस्य निकलते और नये सदस्य आते रहते हैं। परिस्थिति के साथ उनका रूप, दूसरों के साथ उनका सम्बन्ध और उनकी कार्य-प्रणाली बदलती रहती है। पुराने समुदाय विलीन हो जाते हैं और नये प्रकट होते हैं।

समुदायों का वर्गीकरण

नियमित और अनियमित, सगठित तथा असगठित समुदायों की संख्या इतनी अधिक है और उनके कार्य इतने प्रकार के हैं कि उनका पूर्णरूप से वर्गीकरण करना कठिन है। तो भी मुख्य मुख्य समुदायों को हम सात शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं:—(१) जन्मसिद्ध समुदाय, (२) धार्मिक समुदाय (३) सांस्कृतिक समुदाय, (४) व्यावसायिक समुदाय (५) मनोरंजनात्मक समुदाय, (६) परोपकारात्मक समुदाय तथा (७) राजनीतिक समुदाय। किन्तु इस वर्गीकरण में अनिवार्यतः दो त्रुटियाँ हैं। पहिली त्रुटि तो यह है कि सभी प्रकार के समुदाय इसके अन्दर नहीं आ सकते। दूसरी त्रुटि यह है कि

उक्त सात विभाग एक दूसरे से बिलकुल पृथक् नहीं हैं। कुछ अंशों में वे एक दूसरे को आच्छादित करते हैं। उदाहरणार्थ, धार्मिक समुदायों और सांस्कृतिक अथवा परोपकारात्मक समुदायों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। इसी प्रकार व्यावसायिक समुदाय कभी कभी जन्मसिद्ध समुदाय के सिद्धान्त पर अवलम्बित होते हैं और उनका गम्भीर राजनीतिक महत्त्व भी होता है। राजनीतिक समुदायों—विशेषत: राज्य—का प्रभाव सामाजिक जीवन की प्रत्येक शाखा पर पड़ता है।

जन्मसिद्ध समुदाय

जन्मसिद्ध समुदायों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कुटुम्ब है। पता लगता है कि प्राचीनकाल की असभ्य तथा अनेक सभ्य जातियों के जन्मसिद्ध समुदाय से इस कुटुम्ब का घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह जन्मसिद्ध समुदाय अनेक दशों में गोत्र अथवा कुल के रूप में पाया जाता है। अनेक कुल कभी कभी आपस में मिलकर एक जाति बना लेते थे। गोत्रों अथवा जातियों के अकसर अपने सरदार, अपनी शासक-समितियाँ तथा व्यवस्थापिका सभायें होती थीं। कुछ जातियों में, जन्मसिद्ध समुदाय गोत्र के अन्दर विवाह करने वाले दल के रूप में ही जीवित बचा है। इस दल के अन्दर अकसर कुछ ऐसे भी छोटे दल होते हैं जो भिन्न गोत्र में विवाह करते हैं। इस प्रकार एक जाति के अन्दर कई भाईचारे शामिल होते हैं। प्रत्येक

भाईचारे में बहुत-से कुटुम्ब सम्मिलित होते हैं। जाति भी एक समुदाय ही है। किन्तु यह समुदाय बहुत अव्यवस्थित हो सकता है अथवा पंचायत की भाँति उसकी कोई एक शासक-समिति हो सकती है। वह भोजन, रहन-सहन, आचरण तथा शादी-विवाह के लिए कठोर नियम निर्धारित कर सकता है। उन नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिए वह अनेक प्रकार के दण्ड का विधान कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह किसी सदस्य को अन्त में जाति से बाहर भी कर सकता है। यहाँ पर यह आवश्यक नहीं है कि हम जाति की उत्पत्ति और लाभ-हानि की विवेचना करें। किन्तु नागरिक दृष्टिकोण से यह बताना आवश्यक है कि जाति उस दशा में हानिकारक है जब कि वह अपने दृष्टिकोण तथा सहानुभूतियों को संकुचित कर लेती है और अपने सदस्यों को सम्पूर्ण समाज के प्रति होने वाले कर्त्तव्य का पालन नहीं करने देती। सार्वजनिक हित से सम्बन्ध रखने वाले आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रश्नों पर जातीय दृष्टिकोण से विचार करना उन सवालों के हल करने को स्थगित करना है। अगर जाति राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में सहयोग देने से रोकती है तो वह नागरिक सिद्धान्त का विरोध करती है। जब कभी जाति मनुष्य की आत्मप्रतिष्ठा को भंग करती है, किसी व्यक्ति को समानता का सुयोग नहीं देती अथवा नातेदारी के सामने योग्यता का कुछ विचार नहीं करती तब हम उसे नागरिक जीवन से शून्य ही समझेंगे।

प्राचीनकाल में धर्म और भाईचारे के बीच बहुधा सम्बन्ध होता था। भारत, ईरान, यूनान तथा रूम इसके उदाहरण हैं।

धार्मिक समुदाय

जाति अथवा गोत्र अपनी उत्पत्ति किसी देवता से मानता था। उसके अपने निजी देवता होते थे जिन्हें वे पूजते, अर्घ देते तथा बलि चढ़ाते थे। आज भी जन्मसिद्ध समुदाय प्रायः उसी सिद्धान्त का अनुसरण करता है। किन्तु अधिकांशरूप से धर्म ने—विशेषकर अद्वैतवादी धर्म ने—अपने को उस सिद्धान्त से मुक्त कर लिया है। आज-कल हो सकता है कि किसी धर्म के अनुयायी एकदम से असङ्गठित हों और यह भी सम्भव है कि उनमें कुछ धार्मिक क्रियायें और विश्वास, सामान्यरूप से प्रचलित हों और वे अपने को आंशिकरूप से एक ही दल का मानते हों। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि वे एक ऐसे सुदृढ़ सङ्गठन में आबद्ध हों जो सारे संसार में फैला हो। ईसाइयों का रोमन कैथेलिक धर्मसंघ इसी प्रकार का एक विश्वव्यापी सङ्गठन है। कभी कभी एक धर्म के अनुयायी अनेक सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों मे विभक्त होते हैं और इस प्रकार समुदाय के बीच समुदाय पैदा हो जाते हैं। यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक विश्वास, प्रार्थना और उपासना की स्वतन्त्रता का अधिकार है। हाँ, लेकिन उसके साथ यह शर्त भी है कि सामाजिक कुरीतियों को धर्म की आड़ में प्रचलित नहीं रहने दिया जा सकता। धार्मिक समुदायों के सम्बन्ध में

भी यही बात सत्य है। धार्मिक विश्वास, प्रार्थना तथा उपासना की स्वतन्त्रता तो उन्हें अवश्य रहेगी किन्तु उन्हें इस बात का अधिकार न होगा कि किसी सामाजिक कुप्रथा को धर्म का अंग घोषित करें और उसके सुधार का विरोध करें। सिद्धान्त यह है कि जिन रीति-रस्मों की वजह से समुदाय के लोगों को अथवा समुदाय के बाहर के व्यक्तियों का सुयोग की समानता न मिलती हो उनमें क़ानून तथा लोकमत के द्वारा संशोधन-परिवर्तन होना चाहिए। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है धार्मिक समुदायों को चाहिए कि वे अनिवार्यरूप से शिक्षण संस्थाओं पर अपने विचारों को न लादें, नहीं तो बच्चों के मस्तिष्क का विकास रुक जायगा अथवा उन्हें पाखण्डी बनने का प्रोत्साहन प्राप्त होगा। नागरिकता के लिए तीसरी आवश्यक बात यह है कि प्रत्येक धार्मिक समुदाय बिना किसी संकल्प-विकल्प के दूसरों को वह स्वतन्त्रता दे जिसे वह स्वयं अपने लिए चाहता है। इससे न केवल दूसरे धर्मों पर अत्याचार करना ही बन्द हो जायगा बल्कि उनके प्रति पूर्ण सहिष्णुता का भाव पैदा हो जायगा। धार्मिक समुदाय को न तो अपने लिए विशेष अधिकारों का दावा करना चाहिए और न धार्मिक विश्वास के कारण दूसरों को कोई अधिकार देने से इनकार करना चाहिए। आर्थिक तथा राजनीतिक मामलों में धार्मिक भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

सांस्कृतिक समुदायों के अन्दर केवल स्कूल, कालेज और

विश्वविद्यालय ही नहीं बल्कि विद्वत्समाज, साहित्यपरिषद्, साहित्यिक गोष्ठी तथा नाट्य-समिति आदि भी सम्मिलित हैं। कुछ सांस्कृतिक समुदाय ऐसे हो सकते हैं जिनमें एक छोटे से क्षेत्र के कुछ ही व्यक्ति शामिल हों। कुछ समुदाय ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें हजारों सदस्य शामिल हों और जिनका विस्तार किसी प्रान्त या देश भर में हो। इस समय वैज्ञानिक तथा दार्शनिक अध्ययन-अनुशीलन की उन्नति के लिए ऐसे अनेक समुदाय वर्तमान हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय हैं। सांस्कृतिक समुदाय भी आपस में मिलकर केन्द्रीय संघों में सङ्गठित हो जाते हैं अथवा वे अपनी स्थानीय शाखायें स्थापित करते हैं। भिन्न भिन्न समुदायों में सङ्गठन की मात्रा भिन्न भिन्न होती है। उनका बाह्य रूप जो कुछ भी हो, उनका मुख्य उद्देश्य स्थूलरूप से एक ही होता है। उनका काम अमूल्य है। वे ज्ञान का प्रचार और उसकी उन्नति करते हैं। वे सामाजिक जीवन को सभ्य तथा परिष्कृत बना देते हैं। शिक्षा के सिलसिले में, उनके सम्बन्ध में कुछ बातें पहले ही बताई जा चुकी हैं। इस स्थान पर नागरिक दृष्टि से हम इस बात पर जोर दे सकते हैं कि सांस्कृतिक समुदाय अपने काम को उस समय बड़े अच्छे ढङ्ग से करते हैं जब वे साम्प्रदायिक अथवा राजनीतिक द्वेष-पक्षपात से प्रभावित नहीं होते और निरपेक्षरूप से सत्य के मार्ग पर डटे रहते हैं। जब शिक्षा-संस्कृति का अध्ययन स्वतन्त्रता के वातावरण में

सांस्कृतिक समुदाय

और उदार भाव से किया जाता है तो उसकी अधिकतम उन्नति होती है और उसका परिणाम सबसे उत्तम होता है। ज्ञान स्वभावतः विस्तारशील होता है और कृत्रिम बन्धनों से उसका विकास और विस्तार रुक जाता है। निरपेक्षरूप से सत्य का अनुसन्धान करना, उसका अधिक से अधिक प्रसार करना और दृष्टिकोण को उदार बनाना ही सब सांस्कृतिक समुदायों का लक्ष्य होना चाहिए। प्रत्येक सांस्कृतिक समुदाय को विद्या और प्रकाश का केन्द्र बनना चाहिए ताकि वहाँ से इन दोनों वस्तुओं का चारों ओर प्रसार हो।

व्यावसायिक समुदाय

व्यावसायिक समुदाय एक बहुत प्राचीन प्रकार का समुदाय है। किसानों के ग्राम-समाज तथा व्यौपार और उद्योग-धन्धा करने वालों के सङ्घ या गण प्रायः प्रत्येक सभ्य देश में आदिम काल से ही स्थापित हैं। उदाहरणार्थ, प्राचीन भारत के अनेक लेखों में जो उपलब्ध हुए हैं, उनका उल्लेख मिलता है। प्रत्येक व्यवसाय में आत्मशासन की प्रवृत्ति मौजूद पाई जाती है। उसके सदस्य उसकी अवस्थाओं को ख़ूब अच्छी तरह से समझते हैं और चाहते हैं कि सदस्य या उम्मीदवार होने की शर्तों को निश्चय करें, उसके काम का दर्जा क़ायम करें और जहाँ तक सम्भव हो उसके काम का पारिश्रमिक अथवा उसके द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं का दाम निर्धारित करें। वे एक-सी ही विचारधारा और जीवन

के एक ही मे दृष्टिकोण का विकास करते हैं और इसलिए वे किसी व्यवस्थित अथवा अव्यवस्थित समुदाय में सम्मिलित हो जाते हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में तथा उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में औद्योगिक क्रान्ति ने संसार के आर्थिक जीवन में परिवर्तन करना आरम्भ किया। उसी समय से उत्पादन, विनिमय तथा वितरण की अवस्थायें बहुत अधिक जटिल होती गई हैं। आर्थिक व्यापार का विस्तार इतना अधिक हो गया है जितना कि पहले कभी नहीं था। उसने सारे संसार को एक कर दिया है। विज्ञान ने आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में जो महान् परिवर्तन उपस्थित किये हैं उनके तह तक अभी हम नहीं पैठ सके हैं और न उनके साथ अपने सामाजिक जीवन का पूर्णरूप से सामञ्जस्य ही किया है। परिवर्तन-काल में आर्थिक सङ्घर्ष की सम्भावना बहुत अधिक बढ़ गई है। इसने व्यावसायिक सङ्गठन की प्रवृत्ति को बढ़ाया है और उसे एक नया महत्त्व प्रदान किया है। ज़मींदार, किसान, खेतों के मज़दूर, हज़ारों तरह के कारख़ानों में काम करने वाले लोग, रेलवे के कर्मचारी, चिट्ठीरसा, खनिक, खानों के मालिक, छोटे बड़े व्यौपारी, जहाजों और बन्दरगाहों में काम करने वाले—सभी अब अपना सङ्गठन कर रहे हैं। डाक्टर, वकील, अध्यापक, पत्रकार, पुलिस, इञ्जीनियर तथा उच्चतम कोटि के सरकारी कर्मचारियों ने भी अपना अलग अलग सङ्गठन करके अपने संघ, मण्डल तथा परिषदें स्थापित कर

ली हैं। पश्चिम के अनेक देशों में आर्थिक जीवन, समुदायों का एक जटिल जाल है और अब भारत भी उसी दिशा में अग्रसर हो रहा है। व्यावसायिक समुदाय, सांस्कृतिक समुदायों की भाँति स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हो सकते हैं। उनका संगठन शिथिल हो सकता है अथवा सेनाओं की भाँति वे सुसंगठित और अनुशासित हो सकते हैं। इस प्रकार आर्थिक जीवन में सामूहिक उद्योग की ही प्रधानता है। इसमें सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्रियाओं के लिए महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। विभिन्न समुदायों के बीच अकसर सङ्घर्ष हो जाता है। इन सङ्घर्षों का रूप कभी कभी बड़ा भीषण होता है। पूँजीपतियों तथा श्रमिकों के बीच अथवा किसानों और जमींदारों के बीच होने वाले सङ्घर्ष विशेषतः ऐसे ही होते हैं। अनेक देशों के पिछले कुछ वर्षों के इतिहास में किसानों के उपद्रव, उद्योग-धन्धों में काम करने वाले मजदूरों की हड़तालें तथा मालिकों द्वारा मजदूरों के बहिष्करण की घटनायें अधिक पाई जाती हैं।

व्यावसायिक समुदायों के क्रिया-कलापों के द्वारा जो स्थिति उत्पन्न हुई है उसकी परीक्षा नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी को समान सुयोग के सिद्धान्त के आधार पर करनी चाहिए। इस प्रकार की निरपेक्ष परीक्षा करने पर कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं। पहला परिणाम यह निकलता है कि व्यावसायिक समुदायों को धर्म अथवा जाति के आधार पर संगठित न होना चाहिए

नहीं तो वे अपने स्वार्थ में अधिक लिप्त हो जायँगे और सार्व-जनिक हित की उपेक्षा करने लगेंगे। दूसरा परिणाम यह निकलता है कि समुदायों को चाहिए कि वे अपने व्यवसायों को उदार व्यवसाय मानें, उन्हें केवल अपने लाभ का ही नहीं बल्कि समाज-सेवा तथा आत्मव्यक्तीकरण का भी साधन समझें।

व्यावसायिक समुदायों के लिए मार्ग-प्रदर्शक सिद्धान्त

उन सभी समुदायों का, जो कृषि, उद्योग-धन्धा, व्योपार, चिकित्सा, क़ानून अथवा अन्य किसी पेशे से सम्बन्ध रखते हैं, यह कर्त्तव्य है कि वे सचाई और काम की उत्तमता का बहुत अधिक ख़याल रक्खें और अपने सदस्यों पर ज़ोर डालें कि वे भी ऐसा ही करें। किसी को अपने दायित्व की अवहेलना नहीं करनी चाहिए और न दूसरे की कमाई पर ही आश्रित होना चाहिए। अगर कोई पेशा केवल जीविका कमाने के लिए अथवा धनसंग्रह करने के लिए ही किया जाय तो यह दुख और अभाग्य की बात है। प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य होना चाहिए कि वह किसी पेशे को अपने को व्यक्त करने, अपनी शक्ति और योग्यता का सर्वोत्तम उपयोग करने और अपनी सामाजिक सहानुभूतियों को व्यवस्थित एवं स्थायी रूप से व्यक्त करने का साधन समझ कर ग्रहण करे। समुदायों का कर्त्तव्य है कि वे प्रत्येक व्यवसाय के सामाजिक उद्देश्य की रक्षा को अपने सम्मान का प्रश्न बना लें। व्यावसायिक समुदाय केवल इसी प्रकार से

सुयोग की समानता के सिद्धान्त पर अपना काम कर सकते हैं। अगर वे ऐसा नहीं करते तो यह समझना चाहिए कि वे अपने न्यायोचित भाग से अधिक के लिए झपटने की चेष्टा करते और दूसरों से लड़ाई-झगड़ा करते हैं। हमारे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि व्यावसायिक समुदाय स्वयं अपने ही सदस्यों के हितों की उपेक्षा करें। सच बात तो यह है कि सार्वजनिक हित के साथ इन हितों का सामञ्जस्य करना चाहिए। अपने समुदाय के लाभ को सामाजिक हित की अपेक्षा अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। इस सामाजिक तथा नैतिक सिद्धान्त का विचार सभी व्यवसायों के अन्तर्गत करना चाहिए। इससे प्रत्येक व्यवसाय का पाया ऊँचा उठ जायगा, आर्थिक संघर्ष की सम्भावना कम रह जायगी तथा सबके कल्याण की वृद्धि होगी। उदाहरणार्थ, ज़मीन्दार का कर्त्तव्य केवल यह नहीं है कि वह किसानों की कमाई का एक हिस्सा ले ले, बल्कि उसे चाहिए कि कृषि की उन्नति में, किसानों की आमदनी को बढ़ाने में और देहातों में रहने वाले सर्वसाधारण लोगों के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करने में अपनी शक्ति भर योग दे। वकील का कर्त्तव्य है कि वह सत्य के पथ का अनुसरण करके मुक़दमे से सम्बन्ध रखने वाली सब बातों को साफ़-साफ़ खोलकर रख दे और इस प्रकार न्याय के उद्देश्य का पालन करे। इसी प्रकार सरकारी नौकरों के समुदायों को केवल अपने वेतन, अलाउन्स तथा पेन्शन की ही बात

नहीं सोचनी चाहिए बल्कि शासन में सुधार करने तथा जनता के हित को अग्रसर करने के तरीक़ों को भी सोच निकालना चाहिए। श्रमिक संघ को चाहिए कि वह केवल काम करने की समुचित अवस्थाओं को क़ायम रखने तथा मज़दूरी के मान की रक्षा करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री न समझे। उसे चाहिए कि उत्पादन को बढ़ाने और उत्पादित वस्तुओं को उत्तम बनाने का भी प्रयत्न करे।

अर्थोपार्जन का यही नागरिक आदर्श है। किसी व्यवसाय-विशेष में इस उद्देश्य की पूर्ति और बातों के साथ दो चीज़ों पर निर्भर करती है। पहिली बात तो यह है कि आर्थिक व्यवस्था समष्टिरूप से न्याय के आधार पर जितना ही अधिक अवलम्बित होगी, व्यावसायिक समुदायों को अपने सब कामों में सार्वजनिक हित पर ध्यान देने में उतनी ही आसानी होगी। इसलिए यह वाञ्छनीय है कि आर्थिक व्यवस्था से अन्याय का बिलकुल बहिष्कार कर दिया जाय। देश-व्यापी शिक्षा और आवश्यक आर्थिक सुविधा—इन दोनों चीज़ों का योग आर्थिक न्याय के लिए एक सुदृढ़ आधार बन जायगा। इसके अतिरिक्त सामूहिक उद्योग के लाभ का उचित वितरण होना चाहिए तथा सबको काम करने के लिए स्वास्थ्यप्रद अवस्थायें और पर्याप्त अवकाश मिलना चाहिए। इन सिद्धान्तों को मानना और कार्यान्वित करना आवश्यक है। दूसरी

आर्थिक जीवन में न्याय

बात यह है कि आर्थिक पेशों में लगे हुए लोगों को खेतों, फ़ैक्टरियों तथा कारख़ानों के आन्तरिक मामलों के प्रबन्ध में कुछ अधिकार देकर उनके आत्मसम्मान तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाना उचित है। जैसा कि हम आगे देखेंगे पहले की अपेक्षा अब यह अधिक आवश्यक है कि राज्य की ओर से आर्थिक जीवन का बहुत कुछ नियमन किया जाय। किन्तु उस नियंत्रण की सीमा के अन्दर और इस बात पर ध्यान रखते हुए कि कार्य-संचालन में कुछ त्रुटि न होने पावे, सार्वजनिक मामलों के सम्बन्ध में, संगठित संस्थाओं के द्वारा किसानों, श्रमिकों तथा अन्य लोगों से सलाह लेनी चाहिए।

राज्य सार्वजनिक हित का प्रतिनिधि है। इसलिए उसे व्यावसायिक समुदायों के बीच होने वाले बड़े-बड़े झगड़ों में

जिनसे सार्वजनिक हित की हानि की आशंका

राज्य का हस्तक्षेप हो, हस्तक्षेप करने का अधिकार है। राज्य

अपने प्रतिनिधियों को यह अधिकार दे

सकता है कि जब ज़मीन्दारों और किसानों अथवा मालिकों और मज़दूरों में तनातनी पैदा हो तो वे पंच बनें, झगड़े का फ़ैसला करें तथा समझौता करायें। उसे यह भी अधिकार है कि सबको समान सुयोग देने के सिद्धान्त पर वह आर्थिक संस्थाओं के पुनःसंगठन तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि की योजना करके आर्थिक कठिनाइयों को हल करने के लिए ऐसे उपाय निकाले जो अधिक टिकाऊ सिद्ध हों।

मनोरंजनात्मक समुदायों की बात बिलकुल विपरीत है। वे धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा व्यावसायिक समुदायों की भाँति कठिन समस्यायें नहीं उत्पन्न करते। खेल-कूद की गोष्ठियाँ तथा मनोरंजनात्मक सभा-समितियाँ साधारण मनुष्य के जीवन का बहुत थोड़ा सा ही समय लेती हैं। वे सार्वजनिक हित में शायद ही कभी विघ्न डाल सकें। नागरिक हित के दृष्टिकोण से केवल इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है कि मनोरंजन नैतिक तथा शारीरिक दोनों दृष्टियों से अच्छा और हितकर हो। मनोरंजन का वास्तविक उद्देश्य लंपटता अथवा छिछोरपन करना नहीं बल्कि दिल का बहलाव करना है ताकि सोचने और काम करने की शक्ति फिर आ जाय।

मनोरंजनात्मक समुदाय

परोपकारात्मक समुदायों की उत्पत्ति सामाजिक सेवा की प्रेरणा से ही होती है। प्रत्येक व्यवसाय में सामाजिक सेवा का भाव रहना चाहिए। किन्तु परोपकार शब्द का निर्दिष्ट अभिप्राय ऐसे काम से है जिसमें व्यक्तिगत लाभ की भावना बिलकुल ही न हो। यदि लोक-कल्याण की प्रेरणा से जीवन में कोई कार्य न किया जाय तो वह जीवन दयनीय नहीं तो अपूर्ण अवश्य है। कुछ लोग वैयक्तिक रूप से दुख और मुसीबत को बहुत कुछ दूर करते हैं। किन्तु संगठन

परोपकारात्मक समुदाय

को सहायता से वे उसे और कम ख़र्चे में तथा अधिक प्रभावपूर्ण रूप से कर सकते हैं। आग, अकाल, बाढ़, भूकम्प तथा महामारी से पीड़ित लोगों की मुसीबत दूर करने, बड़े बड़े दवाख़ाने, अस्पताल, अनाथालय, विधवाश्रम, पुस्तकालय, स्कूल और अन्य शिक्षण संस्थाओं को चलाने, अभावग्रस्त लोगों को ऊपर उठाने तथा मज़दूरों और किसानों के जीवन के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करने के काम उसकी सहायता से शीघ्रतापूर्वक किये जा सकते हैं। परोपकारी समुदाय समाज के परमार्थ-भाव को अधिकांश रूप से जाग्रत कर देते हैं। उनका कर्त्तव्य है कि इस भाव को इस तरह संगठित करें कि समाज का अधिक से अधिक लाभ हो। परोपकार का काम उस अवस्था में सबसे अधिक होता है जब वह महान उद्देश्य और विस्तृत दृष्टिकोण से प्रेरित होता है। वर्तमान युग का एक आशाप्रद चिह्न यह है कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परोपकारात्मक समुदायों का विकास हो रहा है। जो दान बिना किसी विचार के दिया जाता है वह कभी कभी लोगों को तृप्त कर आलसी बना देता है। दान पाने वाले के हक़ में वह अच्छा होने के बजाय बुरा होता है। वह दान ऐसी दवा के समान है जो कि रोग से भी अधिक घातक सिद्ध होती है। अगर सामाजिक बुराइयों को ठीक ठीक समझ लेने के बाद उनको दूर करने के लिए दान दिया जाय तो उससे समाज की स्थायी उन्नति में कुछ योग मिल सकता है। जो दवा ठीक ठीक रोग-निदान के आधार

पर रोगी को दी जाती है वह शरीर को स्वस्थ बनाने में अवश्य ही सहायक होती है। जहाँ तक लोगों द्वारा व्यक्तिगत रूप से सहायता देने का सवाल है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि परोपकार वही ठीक है जो लोगों को स्वावलम्बी बनने के लिए उत्साहित करे, उनमें दूसरों पर आश्रित रहने की आदत न डाले। व्यक्तित्व के विकास का जो नागरिक सिद्धान्त है, यह बात उसके अनुकूल ही है। उदाहरणार्थ, किसी आदमी को काम पर लगा देना, दान-द्वारा उसकी सहायता करने की अपेक्षा बहुत अधिक उत्तम है। स्वास्थ्य और सफ़ाई की उन्नति करना अस्पतालों की स्थापना करने की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। इसी प्रकार निर्धनता के मूल कारणों को दूर करना, ग़रीब लोगों को सहायता पहुँचाने की बनिस्बत ज्यादा अच्छा है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने के लिए परोपकार न केवल उच्च उद्देश्यों ही पर बल्कि अन्य बातों पर भी निर्भर करता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक अवस्थाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाय, संगठन की सहायता ली जाय और महान उद्देश्य से प्रेरित होकर काम किया जाय।

यहाँ तक जितने समुदायों का वर्णन किया गया है उनका सदस्य बनना या न बनना किसी व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है। कोई व्यक्ति किसी निर्दिष्ट धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक, मनोरंजनात्मक अथवा लोकोपकारी समुदाय

का सदस्य होने के लिए विवश नहीं किया जाता। बहुत से लोग ऐसे हैं जो कुछ समय तक सदस्य रहकर उन समुदायों का त्याग देते हैं। राज्य के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। राज्य सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समुदाय है। उसकी सदस्यता अनिवार्य है। अगर कोई किसी राज्य-विशेष को छोड़ देता है तो वह उसके बजाय दूसरे राज्य में चला जाता है। किन्तु रहता है वह किसी न किसी राज्य का सदस्य ही होकर। राज्य अपने सदस्यों पर जो कर्त्तव्य लाद देता है उससे कोई बच नहीं सकता। राज्य के हाथ में बड़ी शक्ति है और उसकी बहुत अधिक प्रतिष्ठा है। वह ऐसे ऐसे कार्य करता है जिन्हें अन्य समुदाय नहीं कर सकते। जब कभी भी आवश्यकता पड़ती है वह अपनी महान् शक्ति की बदौलत दूसरे समुदायों के कार्यक्षेत्रों में सामञ्जस्य स्थापित करता है। राज्य इस प्रकार एक समुदाय है किन्तु यह समुदाय दूसरे समुदायों से कुछ मुख्य मुख्य बातों में भिन्न है। राज्य के अन्तर्गत दूसरे समुदाय—म्यूनिसिपैलिटी आदि—शामिल हैं। इन समुदायों का भी आधार भौमिक है। ये सब राजनीतिक समुदाय हैं। राजनीतिक समुदाय एक दूसरे प्रकार के भी हैं। ये हैं वे समुदाय जिनकी सदस्यता अनिवार्य नहीं बल्कि स्वेच्छाधीन है। ये वे राजनीतिक दल हैं जो निर्दिष्ट कार्यक्रमों को अग्रसर करने के लिए स्थापित हैं। ये प्रायः

राजनीतिक समुदाय

धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक तथा परोपकारात्मक संस्थाओं से संग्रथित होते हैं। हाल में एक दूसरे प्रकार के राजनीतिक समुदाय का आविर्भाव हुआ है। उसकी सदस्यता भी स्वेच्छाधीन है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समुदाय है—जैसे राष्ट्रसंघ।

सामाजिक नियंत्रण समाज के किसी एक केन्द्रीय बिन्दु से संचालित नहीं किया जाता। सभी समुदाय उस नियंत्रण में भाग लेते हैं। समुदाय ही नहीं रीति-रस्म, लोकमत तथा बड़े बड़े नेता भी उसमें भाग लेते हैं। कोई इस अर्थ में सर्व-प्रधान राजा नहीं है कि वह जो कुछ चाहे करे। विभिन्न धर्मों तथा सामाजिक रीति-रवाजों के साथ भी वह ऐसा नहीं कर सकता। चरमशक्ति सम्पूर्ण राजनीतिक समाज में बँटी हुई है और उसके बाहर भी फैली हुई है। यह बात ज़ाहिर है कि राष्ट्र एक दूसरे पर अनेक बातों में आश्रित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के नियम बने हुए हैं जिन्हें अनेक राज्य मानते हैं—यद्यपि सम्पूर्णतः नहीं। सामाजिक नियंत्रण रखने वाले किसी एक समुदाय का असली चरमशक्ति पर, एकाधिकार नहीं है।

सामाजिक नियंत्रण

चरमशक्ति का वितरण भी सदा और सर्वत्र एक रूप में नहीं रहता। एक युग से दूसरे युग में, एक स्थान से दूसरे स्थान में तथा एक समुदाय से दूसरे समुदाय में उसका रूप भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, धर्मशास्त्र तथा पुरोहितगण आज से

पाँच सौ वर्ष पूर्व जितने प्रभावशाली थे उतने आज नहीं हैं। आजकल उनका जो कुछ प्रभाव है वह सब पर समान नहीं है, कुछ लोगों पर अधिक है और कुछ पर कम। इसी प्रकार उत्तर मध्ययुग में यूरोप के अन्दर व्यावसायिक समुदाय कुछ नगरों पर प्रायः शासन करते थे। आज कुछ देशों में पूँजीवादी समुदाय अधिक शक्तिशाली हैं और कुछ में मज़दूर-संघों का ज़ोर है। कुछ देशों और कुछ युगों में दूसरे देशों और युगों की अपेक्षा लोकमत का बहुत अधिक प्रभाव रहता है। इसी प्रकार और भी समझना चाहिए। किन्तु ऐतिहासिक काल में, जैसा कि आजकल भी देखा जाता है, सामाजिक नियंत्रण का अधिकार सबसे अधिक राजनीतिक समुदायों में है। राजनीतिक समुदायों की एक अलग ही श्रेणी है। वे इतने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—विशेषकर वर्तमान परिस्थितियों में—कि उनकी अलग विवेचना करनी आवश्यक है। अगले अध्याय में हम उनकी उत्पत्ति का वर्णन करेंगे और यह भी बतलायेंगे कि नागरिक जीवन पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है।

आठवाँ अध्याय

राज्य

राज्य कृत्रिम और प्राकृतिक दोनों है

चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसे दूसरों के साथ मिलकर काम करना पड़ता है इसलिए अनेक प्रकार के समुदायों की उत्पत्ति होती है। इस अर्थ में वे सभी समुदाय प्राकृतिक हैं। किन्तु उनको रूप देने तथा उनका विकास करने में मनुष्य को पर्याप्त उद्योग और मनसूबा करना पड़ता है। इस अर्थ में सभी समुदाय कृत्रिम हैं। कुछ समुदायों में दूसरों की अपेक्षा प्राकृतिक तत्त्व बहुत अधिक मात्रा में वर्तमान होता है। कृत्रिम और प्राकृतिक के बीच जो भेद है वह यद्यपि अध्ययन-मनन के लिए उपयोगी है किन्तु उसकी विवेचना विस्तार के साथ नहीं की जा सकती। प्रकृति तो केवल शक्तियाँ प्रदान करती है। किस प्रकार उन शक्तियों का विकास होगा और वे किन संस्थाओं का रूप ग्रहण करेंगी, यह सब वातावरण पर निर्भर करता है। मनुष्य अपने उद्योग और विचार के बल से कम से कम अंशतः उस वातावरण को अपने अधीन कर सकता है और अपनी निजी शक्तियों का विकास कर सकता है। इस प्रकार कृत्रिम

और प्राकृतिक दोनों अदृश्य रूप से बहुत धीरे धीरे एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं और अन्त में चलकर उनमें कोई भेद नहीं किया जा सकता। अतः राज्य को हम कृत्रिम और प्राकृतिक दोनों कह सकते हैं। इसका मतलब यह है कि राज्य का मूल आधार मनुष्य की अन्तर्जात शक्तियाँ और स्वाभाविक आवश्यकतायें हैं। परिस्थिति की आवश्यकतायें तथा मनुष्य के विचार और मनसूबे उसके रूप और विधान की सृष्टि करते हैं।

सामाजिक जीवन के बहुसंख्यक अंग हैं किन्तु वे सब एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। फलतः एक ही समुदाय बहुधा अनेक हितों से सम्बन्ध रखता है और कई उद्देश्यों की पूर्ति करता है। राज्य विशेषतः अनेक प्रकार से जीवन पर प्रभाव डालता है।

राज्य की उत्पत्ति

राज्य का प्रादुर्भाव केवल सम्मिलित उद्योग द्वारा सिद्ध होने वाले उद्देश्यों के लिए सहयोग का संगठन करने तथा सामाजिक जीवन के मार्ग से रुकावटों को दूर करने के लिए हुआ। जहाँ सिंचाई की व्यवस्था सबको मिलकर करनी पड़ती थी जैसे मिस्र तथा ईराक़ में, अथवा जहाँ बाढ़ को रोकने के लिए सबको सम्मिलित उद्योग करना पड़ता था जैसे चीन में, वहाँ लोगों ने अपने को एक राज्य में संगठित कर लिया। दूसरे शब्दों में, उन लोगों ने सहयोग को निश्चित और संगठित करने के लिए एक राजनीतिक समुदाय स्थापित कर लिया। इसके

अतिरिक्त एक जाति के लोग दूसरी जाति वालों से जीविका के साधन के लिए अथवा दूसरे कारणों से अकसर लड़ाई कर बैठते थे। युद्ध में सफलता अन्य किसी चीज़ की अपेक्षा सहयोग, नेतृत्व तथा साधनों के एकत्रीकरण पर अधिक निर्भर करती है। ये तीनों चीज़ें भी राजनीतिक संगठन की अपेक्षा रखती हैं। यह बात स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति तथा उसके स्थायीकरण में युद्ध एक प्रधान हेतु था। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि लड़ाइयों के द्वारा मानव-जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। उनकी वजह से विभिन्न मात्राओं में लोगों के बीच प्रभुता और पराधीनता का सम्बन्ध स्थापित हुआ। प्रभुवर्ग अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा पराधीन-वर्ग के लोगों से परिश्रम कराने के लिए राज्य के संगठन तथा साधनों का उपयोग करने लगा। इस प्रकार राज्य अंशतः शक्ति पर अवलम्बित था। साथ ही अनेक प्रकार की सम्पत्तियाँ उत्पन्न हो गई थीं और समाज में उनका वितरण असमान हो गया था। राज्य ने सबकी सम्पत्ति की रक्षा करने तथा धनवानों के धन को सुरक्षित रखने का दायित्व अपने ऊपर लिया। राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओं के कारण लोगों की अनेक श्रेणियाँ बन गईं। उनके पारस्परिक सम्बन्धों में शान्ति और सामञ्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता हुई। राज्य तथा अन्य संस्थाओं के द्वारा उस आवश्यकता की पूर्ति

हुई। सामाजिक शान्ति की रक्षा का दायित्व राज्य पर पड़ा। इसके अतिरिक्त राज्य एक और उद्देश्य की पूर्ति करने लगा। उसने उन झगड़ों का निपटारा करना प्रारम्भ किया जिनका उत्पन्न होना अनिवार्य था। अगर इन झगड़ों का समझौता शान्तिपूर्वक न किया जाता तो उनका परिणाम गड़बड़ी, मार-काट तथा वैर-प्रतिशोध होता।

ऊपर बतलाया गया है कि राज्य एक राजनीतिक समुदाय है। उसका आधार भौमिक है और उसकी सदस्यता अनिवार्य है। उसकी विभिन्न विशेषताओं की विवेचना करने के पूर्व यहाँ एक दूसरे शब्द का अर्थ समझा देना आवश्यक है। वह शब्द

राज्य और सरकार

'सरकार' है। अक्सर राज्य और सरकार दोनों शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। किन्तु असल में राज्य एक समुदाय है और सरकार उसका कार्य करने वाला अंग है। देश के सभी निवासी राज्य के सदस्य होते हैं लेकिन सरकार के सदस्य थोड़े से ही लोग होते हैं। राज्य की नीति को स्थिर करने में सब लोगों का हाथ हो सकता है लेकिन उसको कार्यान्वित करने का भार केवल थोड़े से ही लोगों के हाथ में सौंपा जाता है। सरकार शीघ्र ही बदल सकती है लेकिन राज्य नहीं बदलता। वह स्थायी रूप से बना रहता है। प्रसिद्ध अँगरेज़ी कवि टेनिसन के शब्दों में राज्य सरकार को लक्ष्य करके कह सकता है कि और लोग आते जाते रहते हैं

लेकिन मेरा काम सदा इसी तरह जारी रहता है। राज्य एक बड़ा और स्थायी इक़रारनामा है जो कभी नष्ट नहीं हो सकता। इसके विपरीत सरकार राज्य के अन्तर्गत एक अल्पकालीन व्यवस्था है जो सुविधा और आवश्यकता के अनुसार बदल सकती है।

सिद्धान्त की दृष्टि से राज्य और सरकार का भेद बिलकुल स्पष्ट है। सरकार राज्य का एक अंग है किन्तु दोनों अभिन्न नहीं हैं। हाँ इस बात पर ज़ोर देने की आवश्यकता ज़रूर है कि सरकार राज्य का एक अनिवार्य तथा अनुपेक्षणीय अंग है। उसके बिना राज्य का काम नहीं चल सकता।

व्यवहार में राज्य और सरकार

सरकार न हो तो राज्य का कार्य-संचालन बन्द हो जाय और उसका प्रायः अस्तित्व ही न रह जाय। एक सरकार की जगह दूसरी सरकार ले सकती है और दूसरी की जगह तीसरी सरकार क़ायम हो सकती है। किन्तु अगर राज्य को क़ायम रखना है तो एक न एक सरकार उसके अन्दर ज़रूर होगी। यही कारण है कि राज्य की विशद विवेचना अनिवार्य रूप से सरकार की विवेचना का रूप धारण कर लेती है। सरकार को राज्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग क्यों माना जाता है, इसका एक दूसरा कारण भी है। परम्परागत रीति-रस्मों और आदतों के सबब से बहुत से लोग राज्य के केवल मौन भागी ही हैं। वे टैक्स देते हैं तथा अन्य कर्त्तव्यों का पालन

करते हैं। इसके बदले वे सुरक्षित रहते हैं और अन्य लाभों का उपभोग करते हैं। किन्तु इसके सिवा वे राजनीति से और कुछ सम्बन्ध नहीं रखते। इसका परिणाम यह होता है कि शक्ति और नेतृत्व अधिकांशतः उन लोगों के हाथ में चला जाता है जो किसी न किसी कारण राजनीति में दिलचस्पी लेते हैं—मुख्यतः उन लोगों के हाथ में जो कि सरकार के अंगस्वरूप हैं। जो कुछ भी हो, जिनके हाथ में प्रभुता आ जाती है उन्हीं का सबसे अधिक अधिकार रहता है और वे ही समाज के सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन को प्रभावित करते हैं। वे अपने युग के सामाजिक तथा आर्थिक प्रभावों से नहीं बच सकते और न वे लोकमत अथवा जनता के मनोभाव की ही एकदम उपेक्षा कर सकते हैं। और सब बातों में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। वे अपनी विचार-बुद्धि के अनुसार शासन के कार्य का सञ्चालन किया करते हैं। राज्य के लिए यही ख़तरे की जगह है। उसका शासन-प्रबन्ध एक ऐसे सुसंगठित दल के हाथ में जा सकता है जो दूसरों के विचारों और आवश्यकताओं को न समझे या उनसे सहानुभूति न रक्खे और अपने निजी अनुभव के अनुसार क़ानून बनावे और शासन करे। राज्य को ऐसे ख़तरों का सामना अकसर करना पड़ा है।

जिन कार्यों का सम्पादन करने के लिए राज्य का प्रादुर्भाव हुआ प्रायः वे सब शुरू से अब तक उसके साथ लगे हुए हैं। राज्य ने आर्थिक तथा अन्य सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के

लिए सहयोग का सङ्गठन किया है। उसने अपनी भूमि की रक्षा करने तथा दूसरों की भूमि पर आक्रमण करने के लिए अनेक युद्ध किये हैं। उसने शान्ति और क़ानून की रक्षा की है और झगड़ों का फ़ैसला किया है। उसने अपने सभी सदस्यों के प्राण और सम्पत्ति की रक्षा की व्यवस्था की है और शक्तिशाली वर्गों के आधिपत्य को सहायता पहुँचाई है। उसने सम्पत्ति का नियमन किया है। राज्य अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक निर्दोष या पूर्ण नहीं है। उसकी भूमि में बसने वाले सभी लोग उसके सदस्य रहे हैं किन्तु उसकी शक्ति का उपयोग अकसर उन लोगों के एक दल ने ही किया है और वह भी अंशतः अपने एकान्त स्वार्थ के लिए। विभिन्न कालों और स्थानों में राज्य के काम छोटी-मोटी बातों में एक-से नहीं रहे हैं। विभिन्न समाजों की आवश्यकताओं एवं विचारों तथा अनेक श्रेणियों और समुदायों के प्रभाव के अनुसार वे बदलते रहे हैं। ऐसे उदाहरण भी पाये जाते हैं जब कि राज्य की शक्ति का उपयोग एक निर्दिष्ट मत या नैतिक आचरण को अग्रसर करने के लिए किया गया है। कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब कि राज्य की शक्ति का प्रयोग प्रधानतः समाज की स्थिति को सुरक्षित बनाये रखने के लिए किया गया है। अनेक राज्य ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपनी प्रजा अथवा उसकी कतिपय श्रेणियों के आर्थिक, व्यापारिक, औद्योगिक, तथा कृषि-सम्बन्धी हितों को अपना हित समझ

राज्य के कार्य

कर उनको अग्रसर करने के लिए अपनी सैनिक शक्ति तथा प्रतिष्ठा का उपयोग किया है। ऐसा करने में कभी कभी तो उन्होंने अन्य देश के लोगों की उपेक्षा भी की है। राज्यों ने बहुधा साहित्य, शिक्षा तथा ललित कलाओं को प्रश्रय दिया है और उनकी उन्नति की है। उन्होंने, विशेषकर आधुनिक समय में, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफ़ाई में तथा ग़रीबों और कष्ट-पीड़ितों को सहायता पहुँचाने में उन्नति की है। उन्होंने जीवन के रहन-सहन को ऊँचा बनाने को कोशिश की है। अपने कार्य्यों का सम्पादन राज्य ने जिस कुशलता अथवा उत्तमता से किया है उसमें विभिन्न सरकारों के ज्ञान, निर्णय-बुद्धि, साधन तथा प्रतिष्ठा के अनुसार और बाह्य निश्चिन्तता एवं आन्तरिक सहयोग की मात्रा के अनुसार विभिन्नता रही है। सरकारों की योग्यता कभी तो प्रायः चरम सीमा तक पहुँच गई है और कभी निम्नतम बिन्दु पर आ गई है। अगर कोई व्यक्ति उन सभी कार्यों पर दृष्टिपात करे जिन्हें राज्य भूतकाल में कर चुके हैं या वर्तमान काल में कर रहे हैं तो यह प्रकट होगा कि ध्यान में आने लायक़ शायद ही कोई ऐसा काम हो जिसे किसी न किसी समय और किसी न किसी देश में राज्यों ने न किया हो या जिसकी उन्होंने कभी न कभी अथवा कहीं न कहीं उपेक्षा न की हो। अतः कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में राज्य पूर्णतः बँधा हुआ नहीं है। वह उनमें कमी या ज़्यादती कर सकता है। सभी दिशाओं में सुधार या विकार होने की सम्भावना हो सकती है। इसलिए नागरिक

जीवन के हित में यह और भी आवश्यक है कि राज्य और सरकार के काम का अध्ययन किया जाय।

राज्य की उत्पत्ति के कारणों और उसके कार्यों से हमें यह पता मिल जाता है कि किन प्रधान आधारों पर राज्य अवलम्बित है। सामाजिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भाईबन्धुओं का समुदाय ही एक प्रकार का राज्य था। इस प्रकार राज्य जन्म-सम्बन्ध पर अवलम्बित था। अकसर वंश या जाति राज्य का आधार रहा है। मनुष्य-विज्ञानवेत्ता हमें बतलाते हैं कि ऐतिहासिक प्रगति के साथ सब जातियाँ मिश्रित हो गई हैं और अब कोई जाति ऐसी नहीं है जिसे हम पूर्णरूप से विशुद्ध कह सकें। तो भी एक समुदाय दूसरे समुदायों से अकसर कई बातों में भिन्न होता है और अपने को एक पृथक् जाति समझता है। ऐसी जाति बहुधा राज्य का प्रधान आधार बन जाती है। इस प्रकार राज्य का एक आधार एकजातीयता है चाहे वह वास्तविक हो चाहे कल्पित। राज्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आधार भूमि है। जो लोग किसी एक निर्दिष्ट भूमि में निवास करते हैं उनके अनेक हित अनिवार्यतः एक से होते हैं। अकसर वे एक ही भाषा अथवा मिली-जुली भाषायें बोलते हैं और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी एक हो जाता है। उन्हें बाहरी लोगों से एक ही भूमि या देश की रक्षा करनी पड़ती है और अपने उपभोग के लिए वे उसी

राज्य के आधार

को सम्पत्ति की वृद्धि करते हैं। इसलिए भूमि राज्य के निर्माण का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आधार है। धर्म ने बहुधा राज्य के विकास में योग दिया है और उसकी संस्थाओं को बहुमूल्य सहायता पहुँचाई है। पुरोहितगण कभी शासक रहे हैं, कभी मन्त्री और कभी शासकों के पथ-प्रदर्शक। राज्य का दूसरा आधार अनेक श्रेणियाँ हैं। ज़मींदारों, पूँजीपतियों, किसानों, कारीगरों, उच्चवर्ण, हीनवर्ण तथा मध्यमवर्ण वाले लोगों की श्रेणियाँ हैं। इनमें से किसी एक या दो श्रेणियों पर अनेक सरकारें सहायता के लिए निर्भर रह चुकी हैं। बल प्रायः राज्य का दूसरा आधार रहा है लेकिन वही एकमात्र आधार नहीं है। कोई सरकार पूर्ण रूप से केवल बल ही पर आश्रित नहीं रह सकती। तो भी इसमें सन्देह नहीं है कि बल अभी तक राज्य का एक महत्त्वपूर्ण आधार रहा है। इसके ठीक विपरीत, जनता की राय अथवा लोकमत भी राज्य का एक आधार रहा है। सरकार को समाज के कुछ लोगों की सक्रिय सम्मति और शेष लोगों की निष्क्रिय मौन-सम्मति प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता और सामाजिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के अतिरिक्त समाज के मुख्य आधार ये हैं; नातेदारी, जाति, पड़ोस, धर्म, श्रेणी, बल और सम्मति। विभिन्न सरकारें इन आधारों में से किसी एक और बहुधा एकाधिक आधारों पर अवलम्बित रही हैं। एक ही सरकार विभिन्न समय में एक अथवा

एकाधिक आधार पर निर्भर रह चुकी है। ये सब अंग आवश्यक रूप से एक ही साथ काम करते हैं। इसलिए यह बतलाना कठिन है कि संयुक्त परिणाम में अलग अलग किसने कितना योग दिया है।

राज्यों और सरकारों का वर्गीकरण

राज्यों और सरकारों का वर्गीकरण चार प्रकार से किया जा सकता है—उन आधारों के अनुसार जिन पर वे अवलंबित हैं, उन कार्यों के अनुसार जो वे करते हैं, उस प्रणाली के अनुसार जिससे वे अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं और उन लोगों के अनुसार जिनके हाथ में शक्ति न्यस्त होती है। अफ़लातून (प्लेटो) और अरस्तू (अरिस्टाटल) के समय से लेकर आज तक राज्यों के अनेक वर्गीकरण किये गये हैं। ये वर्गीकरण एक दूसरे से बिलकुल भिन्न नहीं हैं। इसका मतलब यह है कि एक ही राज्य या सरकार विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार अनेक श्रेणियों में आ जाते हैं।

भूमि की दृष्टि से अगर राज्य का वर्गीकरण किया जाय तो उसके अन्तर्गत नगर-राज्य और देश-राज्य आ जाते हैं।

नगर-राज्य और देश-राज्य

नगर-राज्यों के उदाहरण हमें प्राचीन यूनान तथा रोम में मिलते हैं। देश-राज्य वे हैं जिनका आविर्भाव यूरोप के अन्दर बाद में चलकर हुआ और जो पूर्वी जगत में सदा मौजूद रहे हैं।

सोलहवीं शताब्दी से अनेक देश-राज्यों ने राष्ट्र-राज्यों का रूप ग्रहण कर लिया है। राष्ट्रीयता के आधार पर अवलंबित देश को ही राष्ट्र कहते हैं। राष्ट्रीयता की जागृति अनेक साधनों से हो सकती है, जैसे सम्मिलित भूमि, भाषा, धर्म, संस्कृति की एकता, सम्मिलित ऐतिहासिक स्मृतियाँ, आर्थिक हित, राजनीतिक आकांक्षायें तथा विदेशी राज्यों का संघर्ष। पहला साधन सम्मिलित भूमि अनिवार्य है। अन्य साधन सहायक हैं किन्तु आवश्यक नहीं है। अगर कुछ साधन अधिक मात्रा में मौजूद हों तो अन्य साधनों के बिना भी राष्ट्रीयता का दृढ़ भाव पैदा किया जा सकता है। राष्ट्रीयता राजनीतिक पहलू पर जोर देती है और कहती है कि वे लोग जो अपने को एक जाति का समझते हैं, एक ही राज्य के सदस्य बन जायँ और वह राज्य विदेशी प्रभुता से मुक्त हो। राष्ट्र-राज्य का यही अर्थ है। टर्की, जापान, संयुक्त-राज्य अमेरिका तथा यूरोप के अधिकांश राष्ट्र इसके उदाहरण हैं।

राष्ट्र-राज्य

जिस राज्य में पुरोहितों का आधिपत्य होता है उसे धर्माधिकारी राज्य कहते हैं। जो राज्य पुरोहित-समाज के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होता है वह लौकिक राज्य कहलाता है। सरकार या तो निरंकुश हो सकती है या वैध। निरंकुश सरकार वह है जो नियम क़ानून की कुछ परवाह न करके मनमाना काम

धर्माधिकारी और लौकिक राज्य

करती है। वैध सरकार वह है जो नियमों के अनुसार सब काम करती है। अफ़लातून और अरस्तू ने राज्यों के दो और विभाग किये हैं—क़ानून-राज्य और विकृत-राज्य। क़ानून-राज्य वह है जिसमें जनता के हित को दृष्टि में रखकर शासन किया जाता है। विकृत राज्य वह है जिसका शासन किसी ख़ास श्रेणी के हितों की दृष्टि से किया जाता है। इन दोनों के बीच राज्यों की कई श्रेणियाँ हैं।

निरंकुश और वैध सरकार

क़ानून-राज्य और विकृत-राज्य

यूनानियों ने राज्यों अथवा सरकारों का एक और वर्गीकरण किया है जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है—राज्यतन्त्र, उच्चजनतन्त्र (अथवा अल्पजनतन्त्र) तथा लोकतन्त्र। राज्यतन्त्र वह है जिसके अन्दर केवल एक ही व्यक्ति शक्ति का संचालन करता है। उच्च-जनतन्त्र वह है जिसमें थोड़े से ही लोग शासन करते हैं। लोकतन्त्र वह है जिसमें शासन का अधिकार बहुसंख्यक लोगों के हाथ में न्यस्त रहता है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक राजतन्त्र आवश्यक रूप से किसी न किसी श्रेणी की सहायता पर निर्भर करता है—चाहे वह श्रेणी छोटी हो या बड़ी, और इसलिए उसमें उच्चजनतन्त्र का भी पुट रहता है। इसी तरह सम्भव है कि राजा केवल नाममात्र के लिए राज्य का स्वामी हो और वह राज्य क़रीब

राजतन्त्र, उच्च-जनतन्त्र तथा लोकतन्त्र

क़रीब उच्चजनतन्त्र अथवा लोकतन्त्र हो। लोकतन्त्र का कार्य-संचालन भी इस तरह हो सकता है कि राज्य को अधिकांश शक्ति थोड़े से ही लोगों के हाथ में सीमित रहे। ऐसी अवस्था में व्यवहार में वह अल्पजनतन्त्र का रूप धारण कर सकता है। असल बात यह है कि समाज में साधारणतः न तो विशुद्ध राजतन्त्र का जन्म होता है और न विशुद्ध उच्चजनतन्त्र अथवा विशुद्ध लोकतन्त्र का, बल्कि उनके मिश्रित रूप का। राजसत्ता, उच्चजन-सत्ता, तथा लोकसत्ता के तत्त्व विभिन्न अनुपातों में मिश्रित हो सकते हैं। ऐसे राज्य भूतकाल में रह चुके हैं और वर्तमान काल में भी मौजूद हैं जिनके विषय में यह कहना कठिन है कि वे राज-तन्त्र हैं अथवा उच्चजनतन्त्र। कुछ राज्य ऐसे हैं जिन्हें हम लोकतन्त्र तथा उच्चजनतन्त्र दोनों कह सकते हैं। इनको अकसर मिश्रित राज्य या सरकार कहते हैं। लोकतन्त्र दो तरह के हो सकते हैं—प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र वह है जिसके अन्दर सब नागरिक एक सभा में एकत्रित होते हों। ऐसा लोक-तन्त्र प्राचीन यूनान में था। अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र उसे कहते हैं जिसके नागरिक बहुत अधिक संख्या में होने के कारण एकत्रित नहीं हो सकते बल्कि प्रतिनिधि-सभायें चुनते हैं।

एक दूसरे दृष्टिकोण से राज्य एकात्मक और संघात्मक राज्यों में विभक्त किये जाते हैं। एकात्मक राज्य में सारी शक्ति एक केन्द्र से संचालित की जाती है। उसमें केवल एक व्यवस्था-पिका, एक सदर अदालत और एक प्रधान कार्यकारिणी होती है।

इँगलैंड, फ्रान्स, बेल्जियम और हालेंड आदि उसके उदाहरण हैं। इसके विपरीत, संघात्मक राज्य में सारा अधिकार संघ सरकार और अनेक अन्तर्भुक्त प्रान्तों या राज्यों की सरकार के बीच विभक्त किया जाता है। प्रान्त या राज्य कुछ कार्यों का सम्पादन करते हैं और व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी तथा न्याय-सम्बन्धी कुछ अधिकारों का उपयोग करते हैं। अन्य कार्यों का सम्पादन तथा अन्य अधिकारों का उपयोग संघ-सरकार द्वारा होता है। बहुधा संघ और प्रान्तों की सरकारों के बीच एक सम्मिलित अधिकार-क्षेत्र होता है। इस क्षेत्र में दोनों को प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। किन्तु साधारणतः संघ को उसमें दख़ल देने या अपने आदेशों को निकालने का पूर्व अधिकार रहता है। जो कुछ भी हो, प्रत्येक अवस्था में संघ के अन्दर दोहरी सरकार, दोहरी राजभक्ति तथा दोहरी प्रभुता होती है। संयुक्त-राज्य अमेरिका, स्वीटजरलैण्ड, आस्ट्रेलिया का प्रजातन्त्र राज्य तथा कनाडा का राज्य इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। अभी हाल में जो नया विधान बना है उसके अनुसार भारतीय शासन में भी संघ-शासन की अनेक विशेषतायें आ गई हैं।

एकात्मक और संघात्मक राज्य

संघ वास्तविक अर्थ में एक राज्य है। किन्तु शिथिल संघ (कन्फेडेरेशन) के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। अगर सख़्ती से जाँच की जाय तो शिथिल संघ-राज्य नहीं है। यह कुछ अभिप्रायों के लिए संधिसूत्र में आबद्ध राज्यों का एक

समुदाय है। इसकी स्थिति संघ तथा नाममात्र के मेल के बीच में है। शिथिल संघ के अन्दर शामिल होने वाले राज्यों के बीच कोई सम्मिलित कार्यकारिणी या व्यवस्थापिका नहीं होती। वह कुछ ऐसे मामलों पर विचार करता और आदेश निकालता है जिनका सम्बन्ध उसके सभी राज्यों से होता है। हाँ, कुछ बातों के लिए शिथिल संघ में भी एक सम्मिलित न्यायालय हो सकता है। वह व्यापारिक, विदेशी अथवा सैनिक मामलों के सम्बन्ध में एक सम्मिलित नीति का विकास कर सकता है। १८३५ ई० से १८६६ ई० तक जर्मनी में 'जर्मन ज़ालवेरीन' के नाम से प्रसिद्ध जो शिथिल संघ क़ायम था वह इसका एक उदाहरण है। १७७६ और १७८७ ई० के बीच अमेरिका में स्थापित 'दि न्यू इँगलैण्ड स्टेट्स' भी एक शिथिल संघ था।

शिथिल संघ

जहाँ तक एकात्मक राज्यों का सम्बन्ध है वे पूर्णत: केन्द्रित या विकेन्द्रित हो सकते हैं। विकेन्द्रीकृत राज्यों में गाँवों, नगरों और ज़िलों को आत्मशासन का काफ़ी अधिकार दिया जाता है। संघ में सम्मिलित राज्य या प्रान्त भी केन्द्रित या विकेन्द्रित हो सकता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका संघ के राज्यों तथा इँगलैण्ड जैसे एकात्मक राज्यों ने अपने यहाँ की स्थानीय शासन-संस्थाओं को काफ़ी स्वराज्य दे रक्खा है। इसके विपरीत, फ़्रान्स जैसे राज्यों ने जिन्होंने केन्द्रीयकरण की

केन्द्रीकृत और विकेन्द्रीकृत राज्य

नीति अख़्तियार की है, स्थानीय बोर्डों को शासन का बहुत कम दायित्व दे रक्खा है। इटली और जर्मनी भी अब पूर्णरूप से केन्द्रीकृत राज्य हैं।

सच पूछा जाय तो निरङ्कुश राज्यों में कोई विधान नहीं होता। उनका शासन राजा की इच्छानुसार होता है। वैध अथवा विधानात्मक राज्य वे हैं जिनके अन्दर सरकार के विभिन्न अङ्गों के अधिकार निर्दिष्ट रहते हैं और निर्दिष्ट नियमों के अनुसार उनका प्रयोग किया जाता है। यह बात ठीक है कि अधिकार और कर्त्तव्य कभी पूर्णरूप से एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। व्यवस्थापिका अनिवार्य रूप से कार्यकारिणी पर अपना प्रभाव डालती है और इसी तरह कार्यकारिणी व्यवस्थापिका पर प्रभाव डालती है। इन दोनों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव न्यायालय पर पड़ता है। अदालत व्यवस्थापिका द्वारा पास किये हुए क़ानूनों को तामील करती है और अपने फ़ैसलों के द्वारा उनकी कमी की पूर्ति करती है। कार्यकारिणी अदालत के निर्णयों को कार्यान्वित करती है किन्तु कभी कभी वह क्षमा प्रदान करती, उपनियम बनाती अथवा कोई महत्त्वपूर्ण आर्डिनेन्स निकालती है। सरकार के अङ्ग एक दूसरे पर आश्रित हैं। इसलिए यह और भी आवश्यक है कि उनके लिए नियम निर्धारित किये जायँ। विधान का यही उद्देश्य है। वह निरङ्कुश शासन की जगह क़ानून का शासन स्थापित करता है।

विधान

विधान दो प्रकार के होते हैं—लिखित और अलिखित। लिखित विधान वह है जिसमें शासन के मुख्य मुख्य सिद्धान्त और व्यवस्थायें एक ही शासन-पत्र पर उल्लिखित हों। कभी कभी शासन-सम्बन्धी छोटे-मोटे विषयों का भी उसमें समावेश होता है।

लिखित विधान

किन्तु समय के साथ शासन का रूप बदलता रहता है और लिखित विधान में व्यावहारिक मतलबों के लिए रीति-रवाज और समझौते जोड़ दिये जाते हैं[1]। पुनः कुछ विधान ऐसे हैं जो यद्यपि लिखित हैं तो भी केवल कुछ ही मामलों का निरूपण करते हैं। उन्हें समझौतों तथा साधारण क़ानूनों के द्वारा पूरा किया जाता है। इन सब बातों से यह मतलब निकलता है कि कोई भी विधान पूर्णतः लिखित नहीं हो सकता। फ्रान्स में विधान है किन्तु उसमें अनेक कमियाँ हैं। इन कमियों की पूर्ति दूसरे तरीक़ों से की गई है। संयुक्त-राज्य अमेरिका में भी एक सुविस्तृत शासन-विधान है किन्तु अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण

१—हमारे देश का शासन-विधान अधिकांशतः लिखित है। भारत को शासन-सुधार देने के लिए ब्रिटिश पार्लियामेण्ट समय समय पर जो ऐक्ट पास करती है वही मुख्यतः हमारा विधान है। शासन-सम्बन्धी कुछ बातें ऐसी हैं जिनका ऐक्ट में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। विधान के कार्यान्वित होने के साथ उनके रूप का विकास होता है।

विषयों का, जिनकी पूरी व्यवस्था विधान में नहीं है, नियमन अब रीति-रवाजों के द्वारा होता है।

अलिखित विधान वह है जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में कोई क़ानून या सावयव क़ानून नहीं है। उन मामलों का प्रबन्ध ऐसे समझौतों, रीति-रस्मों तथा परम्परागत नियमों के अनुसार होता है जिनका विकास धीरे धीरे हुआ है।

अलिखित विधान

इँगलैण्ड अलिखित विधान का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है। वहाँ मंत्रि-मण्डल की स्थिति, पार्लियामेण्ट और मंत्रिमण्डल के साथ राजा का सम्बन्ध, प्रधान सचिव के अधिकार, मंत्रिमण्डल और पार्लियामेण्ट के सम्बन्ध—ये सब क़ानून द्वारा नहीं निर्धारित किये जाते। उनका रूप विधान के विकास के साथ निश्चित हुआ है और उनकी कमी की पूर्त्ति समझौतों के द्वारा की गई है। किन्तु इँगलैण्ड का विधान पूर्णतः अलिखित नहीं है। उदाहरणार्थ मताधिकार का नियमन सदा क़ानून के द्वारा होता रहा है। हाउस आफ़ लार्ड्स और हाउस आफ़ कामन्स के सम्बन्ध अब क़ानून के द्वारा नियंत्रित होते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि कोई भी विधान पूर्णरूप से लिखित या पूर्णतः अलिखित नहीं है। कुछ विधानों में दूसरों की अपेक्षा लिखित अंश अधिक हैं। यह भेद अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है किन्तु भेद मात्रा का है चीज़ का नहीं।

हम अभी देख चुके हैं कि लिखित विधान शासन के विभिन्न अंगों के अधिकारों और कार्यों को स्पष्ट रूप से निर्धारित करता है। किन्तु चूंकि वह अधिक पवित्र और गौरवमय माना जाता है इसलिए उसका उपयोग कुछ अतिरिक्त उद्देश्यों के लिए भी किया गया है। उसमें अकसर अधिकारों की घोषणा सम्मिलित की जाती है। धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का, सार्वजनिक सभा करने और मिलने-जुलने की आज़ादी का, शिक्षा प्राप्त करने तथा क़ानून की दृष्टि में सबको बराबर मानने का अधिकार घोषित किया गया है। इसके अतिरिक्त, कार्यकारिणी या व्यवस्थापिका के लिए कुछ कर्त्तव्यों को अनिवार्य करने; कुछ महत्त्वपूर्ण और नाज़ुक मामलों के सम्बन्ध में उनके पास आदेश जारी करने, और उन्हें कुछ कामों को करने से रोकने के लिए विधान का उपयोग किया गया है। यह सब जनता इस वास्ते करती है कि कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका मनमाना काम न कर सके। इस तरह की व्यवस्था से कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका के वहम से उसकी रक्षा होती है। विधान में अधिकारों की घोषणा कर देने से अल्पसंख्यकों को इतमीनान हो जाता है और सभी व्यक्तियों के आत्म-विकास का सुयोग और अधिक निश्चित हो जाता है। कभी कभी विधान में घोषित इन अधिकारों की कुछ भी परवाह नहीं की जाती। जर्मनी, आस्ट्रिया तथा अन्य स्थानों में हाल में

लिखित विधानों के उपयोग

जो घटनायें हुई हैं उनसे प्रकट होता है कि असाधारण समय में विधान में दिये गये अधिकार सब व्यर्थ हो जाते हैं। किन्तु साधारण समय में वे एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति करते हैं और नागरिक जीवन पर उनका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

कठोर और नरम विधान

एक दूसरे दृष्टिकोण से विधान के दो अन्य विभाग किये गये हैं—कठोर और नरम। नरम विधान उसे कहते हैं जिसमें व्यवस्थापिका, क़ानून बनाने की साधारण कार्यप्रणाली के द्वारा संशोधन-परिवर्तन कर सकती है। इँगलैण्ड का विधान नरम है। वहाँ जब विधान में परिवर्तन करने की आवश्यकता समझी जाती है तो पालियामेण्ट साधारण कार्यप्रणाली का ही अवलम्बन करके वह परिवर्तन कर देता है। उदाहरणार्थ, १९११ ई० में पालियामेण्ट के दोनों भवनों के सम्बन्ध में जो परिवर्तन किया गया था वह साधारण प्रणाली की सहायता से ही किया गया था। इसी प्रकार १९१८ तथा १९२८ ई० में मताधिकार में परिवर्तन हुआ था। कठोर विधानों की बात भिन्न है। उसमें साधारण कार्यप्रणाली के अनुसार परिवर्तन नहीं किया जा सकता।[1] कठोर विधान

१—यद्यपि जिस कार्यप्रणाली से भारत का विधान बनता है उसी के अनुसार उसमें परिवर्तन भी होता है, तो भी हम यह नहीं कह

में परिवर्तन करने की अपनी एक विशेष प्रणाली होती है। परिवर्तन के काम में घोर कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं जैसा कि संयुक्त-राज्य अमेरिका में होता है अथवा वह अपेक्षा-कृत सुगमता से हो सकता है जैसा कि फ्रान्स में सम्भव है। यह आवश्यक नहीं है कि हम विस्तार में जायँ किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि कठोर विधानों के संशोधन की प्रणाली सभी देशों में एक ही नहीं है। कहीं तो यह व्यवस्था है कि व्यवस्थापिका की दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक में संशोधन उपस्थित और स्वीकृत किया जाय। कहीं यह नियम है कि संशोधन का प्रस्ताव जनस्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाय अर्थात जनता का उस पर मत संग्रह किया जाय और अगर एक निर्दिष्ट बहुमत उस संशोधन के पक्ष में हो तो वह स्वीकार कर लिया जाय। कहीं पर विधान में परिवर्तन करने के लिए एक नया आम निर्वाचन करने का नियम है। कहीं पर यह नियम है कि वैधानिक संशोधन के लिए एक विशेष सभा बुलाई जाय। अगर एक विशेष बहुमत उसके पक्ष में हो तो वह

सकते कि भारत का विधान नरम है। वास्तव में उसमें परिवर्तन कराना बड़ा ही कठिन है। भारतीय व्यवस्थापिका को इस सम्बन्ध में कुछ अधिकार नहीं प्राप्त है। व्यवस्थापिका और लोकमत के निरन्तर आन्दोलन के पश्चात् और कमीशन आदि के द्वारा जाँच-पड़ताल करने के बाद ही ब्रिटिश पार्लियामेण्ट उसमें संशोधन करती है। इस दृष्टि से हमारे देश का विधान कठोर है।

संशोधन स्वीकार किया जाय नहीं तो अस्वीकृत किया जाय। इस प्रकार प्रकट होता है कि विधानों की कठोरता में मात्रा का भेद होता है। कहीं तो वह कठोरता अधिक है और कहीं कम। फ्रान्स का विधान यद्यपि कठोर माना जाता है किन्तु संशोधन की सुगमता की दृष्टि से वह अमरीका के कठोर विधान की अपेक्षा इँगलैण्ड के नरम विधान से ज्यादा मिलता है। इसके अतिरिक्त, प्रणाली जो कोई भी हो, विधान का संशोधन मुख्यत: लोकमत पर निर्भर करता है। अत: कठोर और नरम विधानों का अन्तर यद्यपि अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है किन्तु उस पर अधिक जोर नहीं दिया जा सकता। यह अन्तर वैसा ही है जैसा कि लिखित और अलिखित विधानों के बीच का भेद। कठोर और लिखित विधान संघ के लिए अधिक उपयुक्त होता है क्योंकि उसमें संघ और उसमें सम्मिलित होने वाले प्रान्तों अथवा राज्यों के बीच अधिकारों का विभाजन करना होता है। ऐसे विधान के द्वारा प्रान्तों को सब प्रकार के भय से मुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार का विधान उस देश के लिए भी उपयुक्त है जो उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के मार्ग पर क़दम रख रहा हो।

कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका के सम्बन्ध की दृष्टि से भी विधानात्मक शासन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अध्यक्षात्मक और सभात्मक। अध्यक्षात्मक शासन

के अन्दर एक अध्यक्ष प्रत्यक्षतः जनता के द्वारा अथवा उसके प्रतिनिधियों के द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता है। वह कार्यकारिणी का प्रधान होता है और व्यवस्थापिका के प्रति उत्तर-दायी होता है। वह और कार्यकारिणी के अन्य सदस्य व्यवस्थापिका में नहीं बैठते और व्यवस्थापिका उन्हें हटा नहीं सकती।

अध्यक्षात्मक और सभात्मक शासन

इस प्रकार वहाँ शासन के अधिकार कुछ हद तक एक दूसरे से अलग हैं। इसका मतलब यह है कि कार्यकारिणी न तो व्यवस्थापिका के अधीन है और न व्यवस्थापिका कार्य-कारिणी के मातहत। सभात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत असली कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है और वह उसके द्वारा हटाई जा सकती है। कार्यकारिणी के मुख्य मुख्य सदस्य व्यवस्थापिका में बैठते हैं। वे सदा उस पर अपना प्रभाव डालते हैं और उससे प्रभावित होते हैं।

सभात्मक कार्यकारिणी का अध्यक्ष साधारणतः प्रधान सचिव होता है जैसा कि इँगलैण्ड, फ्रान्स, कनाडा आदि में है। प्रधान सचिव को स्पष्ट रूप से प्रधानता प्राप्त रहती है और वह दूसरे मंत्रियों पर कुछ अधिकार रखता है। अध्यक्षात्मक शासन में अध्यक्ष का अधिकार और अधिक होता है जैसा कि संयुक्तराज्य अमेरिका में है। किन्तु एक

सम्मिलित कार्यकारिणी

तीसरे प्रकार की कार्यकारिणी भी होती है। उसमें सभी मंत्रियों का पद समान होता है। प्रधान अथवा अध्यक्ष का पद उनसे ज़रा सा ही ऊँचा होता है। इसे सम्मिलित कार्यकारिणी कहते हैं। इसका आविर्भाव पहले पहल स्विटज़रलैण्ड में हुआ। वहाँ सभी मंत्री व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं और वे उसको अपना स्वामी समझकर उसकी नीति को कार्यान्वित करते हैं। बारी बारी से वे संघ के उपसभापति और सभापति हो जाते हैं। सभी मंत्रियों का पद समान होता है। जो सभापति होता है उसका स्थान समान पद वालों में प्रथम समझा जाता है।

प्रतिनिधि-प्रणाली पर अवलंबित शासन का विभाजन एक दूसरे आधार पर किया जा सकता है। उसकी व्यवस्थापिका एकसभात्मक या द्विसभात्मक हो सकती है। एकसभात्मक प्रणाली में जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है व्यवस्थापिका एक सभा की होती है।[१] बल्गेरिया, मेक्सिको तथा कुछ अन्य राज्यों

१—१९१९ ई० के पूर्व भारत की केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकायें एकसभात्मक थीं। १९१९ ई० के मान्टेग्यु-चेम्सफ़ोर्ड विधान ऐक्ट ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका को द्विसभात्मक बना दिया। किन्तु प्रान्तीय व्यवस्थापिकाएँ एकसभात्मक ही बनी रहीं। नये शासन-विधान के अन्दर कई प्रान्तों की व्यवस्थापिकाएँ भी द्विसभात्मक बना दी गई हैं।

में एकसभात्मक व्यवस्थापिकायें स्थापित हैं। द्विसभात्मक व्यवस्थापिका में दो सभायें होती हैं जैसा कि आजकल अधिकांश राज्यों में हैं। यहाँ पर इस बात की विवेचना करनी आवश्यक नहीं है कि द्विसभात्मक प्रणाली से क्या लाभ और क्या हानियाँ हैं। यह निर्देश करना पर्याप्त होगा कि संघ में दूसरी सभा एक मतलब पूरा करती है। वह संघ-सम्मिलित राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है। जनता के प्रतिनिधि पहली सभा में जाते हैं और राज्य के प्रतिनिधि दूसरी सभा में। संघात्मक तथा असंघात्मक अथवा एकात्मक राज्यों में दूसरी सभा, पहली सभा से पास होकर आने वाले बिलों को दुहराती तथा उस पर बहस करती है। अकसर वह ऐसे क़ानून के पास होने में देरी लगाती है जिसे वह अवाञ्छनीय और उतावली का समझती है। धन स्वीकार करने का अधिकार साधारणत: पहली सभा के ही हाथ में रहता है। दोनों सभायें मिलकर क़ानून पास करती हैं।

एकसभात्मक और द्विसभात्मक प्रणाली

राज्यों और सरकारों के यही मुख्य मुख्य वर्गीकरण हैं। जहाँ तक नगर-राज्य और देश-राज्य का सम्बन्ध है, पसन्द करने का कोई सवाल ही नहीं है। वर्तमान युग में नगर-राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह गया है। अत: हम देश-राज्य में रहने के लिए बाध्य हैं। धर्माधिकारी तथा लौकिक राज्य के बीच भी पसन्द की कोई अधिक गुंजाइश नहीं है। चूँकि अब

लोग—एक ही राज्य के अन्दर रहने वाले भी—भिन्न धर्मों का अनुसरण करते हैं अतः यह सर्वोत्तम होगा कि राज्य को पंडितों और पुरोहितों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त कर दिया जाय। राज्य को विशुद्ध लौकिक आधार पर अवलंबित होना चाहिए। उसे न तो किसी धर्म-विशेष पर अत्याचार करना चाहिए और न उसको प्रोत्साहन देना चाहिए।

विभिन्न प्रकार के शासन की उपयुक्तता

यह बात भी स्पष्ट ही है कि प्रत्येक राज्य को वैध होना चाहिए, निरंकुश नहीं। केवल क़ानून का शासन ही लोगों में सुरक्षित होने का भाव और पूर्ण विश्वास उत्पन्न कर सकता है। इसके बिना राज्य की बहुत कुछ उपयोगिता नष्ट हो जाती है और वह बहुधा निश्चय रूप से लोगों को हानि पहुँचाता है। प्रत्येक सरकार का संचालन क़ानून के अनुसार होना चाहिए। यह बात भी काफ़ी स्पष्ट है कि किसी राज्य को विकृत राज्यों की श्रेणी का नहीं होना चाहिए। उसे स्वयं शासकों के अथवा किसी श्रेणी-विशेष के हित के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण प्रजा के हित के लिए संचालित होना चाहिए। राज्य का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह सार्वजनिक हित को सदा अपने सामने रक्खे और उसे अपने सभी काम और नीति का आधार बनावे। यहाँ तक तो आम तौर से निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इसके आगे शासन का कोई रूप ऐसा नहीं है जो सभी परिस्थितियों में सर्वोत्तम कहा जा

सके। एक निर्दिष्ट काल में किसी देश के लिए किस प्रकार का शासन उपयुक्त होगा यह बात सम्पूर्ण परिस्थितियों पर निर्भर करती है। समय और स्थान का विचार छोड़कर किसी आदर्श शासन की खोज करना व्यर्थ है। अतः वर्तमान समय की परिस्थितियों पर ध्यान रखकर ही सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि विभिन्न प्रकार के शासन कहाँ तक उपयुक्त और किस हद तक अनुपयुक्त हैं। इसके आगे प्रत्येक निर्दिष्ट देश के सम्बन्ध में यह जाँच करना आवश्यक है कि वहाँ की परिस्थितियों में कौन सी शासन-व्यवस्था नागरिक जीवन की उन्नति के लिए सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

यह बात स्पष्ट है कि संघ-शासन संयुक्त-राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और भारत[१] जैसे विशाल देशों के लिए उपयुक्त है। किन्तु अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि संघ-सरकार के हाथ में पर्याप्त अधिकार न्यस्त करना उचित है ताकि वह न केवल विदेशी मामलों और रक्षा के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य का समुचित निर्वाह कर सके बल्कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय

१—नये शासन-विधान के पूर्व भारत में संघ-शासन नहीं था। किन्तु नये ऐक्ट ने उसकी व्यवस्था कर दी है। संघ-शासन की योजना अभी कार्यान्वित तो नहीं हुई है किन्तु आशा है कि निकट भविष्य में वह कार्यरूप में परिणत हो जायगी। संघ-शासन में ब्रिटिश भारत और देशी राज्य दोनों सम्मिलित होंगे।

क्षेत्र में आर्थिक उन्नति के प्रश्नों पर भी विचार कर सके। वर्तमान युग में, जब कि शीघ्रता के साथ जाने-आने के साधन सुलभ हैं, राष्ट्रीय कल्याण की समष्टि रूप से व्यवस्था और आयोजना करना तथा मानव-जाति के कल्याण के साथ उसका सामञ्जस्य करना न केवल लाभदायक ही है बल्कि कभी कभी अनिवार्य भी है। ऐसी अवस्था में संघ-सम्मिलित राज्यों के अधिकारों पर अधिक ज़ोर देना ठीक नहीं है। स्थानीय बोर्डों को अधिकार प्रदान करने के सम्बन्ध में भी वे ही बातें लागू होती हैं। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, ग्रामपञ्चायतों, म्यूनिसिपैलिटियों, ज़िला बोर्डों तथा ऐसी ही अन्य स्थानीय संस्थाओं के हाथ में पर्याप्त अधिकार सौंप देने से कुछ महान लाभ होते हैं। किन्तु विकेन्द्रीकरण को इस सीमा तक ले जाना ठीक नहीं है कि राष्ट्रीय आयोजना में बाधा हो। विधानों के सम्बन्ध में सामान्य रूप से केवल यही कहा जा सकता है कि लिखित और कठोर विधान से ही प्रारम्भ करना सबसे अच्छा होता है। कोई देश इस बात के लिए शताब्दियों तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता कि शासन-सम्बन्धी रीति-रस्मों का धीरे धीरे विकास हो और वे अलिखित तथा नरम विधानों का रूप ग्रहण करें। संघ-शासन के लिए तो ख़ास तौर से यह वाञ्छनीय है कि पहले लिखित और कठोर विधान की व्यवस्था की जाय और फिर उसे विकसित होने दिया जाय। किन्तु इस बात के सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम नहीं निर्धारित किया जा सकता

कि विधान को किस सीमा तक लिखित और कठोर होना चाहिए। यह बात समय और देश को परिस्थितियों पर ही निर्भर करेगी। आत्मशासन करने वाले देशों में कार्यकारिणी का क्या रूप होना चाहिए, इसके लिए भी कोई सामान्य नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि साधारणतः सभात्मक शासन-प्रणाली अपना काम अध्यक्षात्मक प्रणाली की अपेक्षा अधिक शान्ति, शीघ्रता तथा उपयोगिता के साथ करती है। किन्तु इस मामले में अपने ही मत को स्थापित करना असम्भव है। सम्मिलित कार्यकारिणी ऐसे छोटे देश के लिए ही उपयुक्त प्रतीत होती है जिसमें स्वीटजरलैण्ड की भाँति अनुकूल सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ मौजूद हों।

लोकसत्ता तथा अन्य प्रकार के शासन

सबसे अधिक विवाद इस विषय के इर्द-गिर्द केन्द्रीभूत है कि राजसत्तात्मक, उच्चजनसत्तात्मक तथा लोकसत्तात्मक शासन-प्रणालियों में क्या गुण-दोष हैं। इस प्रश्न को वैज्ञानिक ढङ्ग से समझने के लिए यह आवश्यक है कि दो प्रारम्भिक बातों पर जोर दिया जाय। पहली बात तो यह है कि इनमें से कोई भी शासन-प्रणाली सभी देशों और सभी युगों के लिए पूर्णरूप से लाभदायक नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि मिश्रित शासन-प्रणालियाँ भी सम्भव हैं और अकसर स्थापित की गई हैं। इन दोनों बातों का उल्लेख

करने के बाद हम कह सकते हैं कि राजसत्ता उन समाजों के उपयुक्त है जो अपेक्षाकृत सरल हों, राजाओं के दैवी अधिकार में विश्वास रखते हों और जिनमें स्वायत्तशासन के लिए आवश्यक आकांक्षा अथवा एकता का अभाव हो। विदेशी आक्रमण या आन्तरिक उपद्रव और लूटपाट का ख़तरा अधिकार के केन्द्रीभूत होने में सहायक होता है। जहाँ तक अल्पजनसत्तात्मक शासन का सम्बन्ध है यह जान लेना उचित है कि यूनान में 'एरिस्टाक्रैसी' अथवा वर्गशासन का अर्थ सर्वोत्तम लोगों का शासन था। किन्तु 'आलिगर्की' अथवा विकृत वर्गशासन के साथ राजनीतिक प्रृथकृता, स्वार्थपरता तथा अत्याचार का अति असुखद भाव लगा हुआ था। वर्गशासन ऐसी परिस्थितियों के उपयुक्त है जिनमें कोई एक वर्ग जो जन्म, धन, कार्य अथवा योग्यता के कारण सर्वप्रधान समझा जाता हो। साधारणतः शासन करने के उपयुक्त हो और अपने में जनता के विश्वास को क़ायम रख सकता हो; सर्वसाधारण लोग न तो उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के भार को सँभालने के लिए उत्सुक हों और न उसकी योग्यता रखते हों। राजतन्त्र या वर्गशासन के अन्तर्गत सर्वसाधारण लोगों को राजनीतिक अधिकार नहीं मिलते। अतः नागरिक जीवन का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त जब शासकवर्ग दूसरे के हितों का बलिदान कर अपना ही स्वार्थ-साधन करने लगता है, या जब वह सार्वजनिक हित को अग्रसर करने के लिए धन,

ज्ञान, अनुभव तथा सङ्गठन के साधनों का उपयोग नहीं करता, अथवा जब उसमें जनता का विश्वास न रह जाय या जब जनता स्वयं पराधीनता से घबड़ा गई हो और स्वराज्य का दावा करती हो, उस समय राजतन्त्र या वर्गशासन में से कोई भी शासन-प्रणाली उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सकती। ऐसी परिस्थितियों में वर्गशासन विकृत वर्गशासन का रूप ग्रहण कर लेता है, साधारण श्रेणी के लोग ऊँचे ऊँचे पदों पर कब्ज़ा कर लेते हैं और इस प्रकार मिश्रित शासन का आविर्भाव हो जाता है। लोकसत्ता ऐसे समाज के उपयुक्त है जिसमें लोग अधिकार का उपयोग करना चाहते हों, अपने छोटे-मोटे भेद-भावों को भुला देने की क्षमता रखते हों, सार्वजनिक हित के लिए सहयोग करने के योग्य हों और इतना ज्ञान और निर्णय-बुद्धि प्राप्त कर चुके हों कि उपयुक्त प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर सकें और यह निर्णय कर सकें कि अमुक नीति उचित है अथवा अनुचित।

प्रत्येक शासन का रूप अनिवार्यतः समाज की विद्या-बुद्धि नैतिक शक्ति तथा धन के वितरण का आभास देता है।

लोकसत्ता के गुण

ये सभी अवस्थायें बहुत जटिल हैं। इसलिए शासन का रूप भी जटिल होता है। उसमें राजसत्ता, उच्चजनसत्ता तथा लोकसत्ता के तत्त्व, सदा परिवर्तन होने वाले अनुपातों में शामिल रह सकते हैं। शासन के सङ्गठन में लोकसत्ता के तत्त्व का सबसे प्रधान

महत्त्व यह है कि नीति के निर्धारित करने में वह सबके हितों का ध्यान रखता है और सब श्रेणी के लोगों से परामर्श करता है। इतिहास में ऐसे शासनों के उदाहरण भरे पड़े हैं जिनमें सङ्कीर्ण साम्प्रदायिकता का भाव इतना प्रबल था कि न तो वे सम्पूर्ण जनता के हितों को समझते थे और न उनकी कुछ परवाह ही करते थे। फलतः आत्म-विकास के अनुकूल अवस्थाओं को स्थापित करने के लिए उन्हें जो कुछ करना चाहिए था उसे नहीं किया। जनता की सभी श्रेणियों के हितों और विचारों को नियमित, सङ्गठित और अधिकारपूर्ण रूप से उपस्थित करने की व्यवस्था करना वाञ्छनीय है। लोक-सत्तात्मक शासन का सार यह है कि राज्य के शासन-सूत्र का सञ्चालन जनता के द्वारा और जनता के ही लाभ के लिए होना चाहिए। इसमें सबसे बड़ा लाभ यह है कि समाज की सभी शक्ति और योग्यता का उपयोग हो सकता है। यह उस विचार-शक्ति और क्रियाशक्ति को जो राजाओं और उच्चश्रेणी के लोगों की पराधीनता में सुषुप्तावस्था में रहती है, जाग्रत कर देता है। लोकसत्ता से एक बड़ा लाभ यह है, कि वह लोगों को व्यापक अर्थ में शिक्षा प्रदान करता है। और कोई भी वस्तु इसके समान गुण अथवा योग्यता को उद्दीपित नहीं कर सकती। यह शासन बहस और वादविवाद के द्वारा होता है। यह जनता के मस्तिष्क को जाग्रत करता और विचारों की उत्पत्ति में सहायक होता है। लोकसत्ता का नैतिक मूल्य भी उतना

ही महत्त्वपूर्ण है। और कोई भी शासन-प्रणाली व्यक्तित्व के अपार मूल्य के सिद्धान्त को इतने स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं करती। लोकसत्ता मनुष्य को ऊँचा उठा देती है और उसके आत्म-सम्मान को बढ़ा देती है।

लोकसत्ता केवल एक प्रकार की शासनप्रणाली ही नहीं है। यह संगठन का एक सिद्धान्त, समाज के प्रति एक मनोवृत्ति तथा जीवन का एक ढंग है। यह इस सिद्धान्त पर अवलम्बित है कि प्रत्येक व्यक्ति के आनन्द का उतना ही मूल्य है जितना कि अन्य किसी भी व्यक्ति के आनन्द का।

लोकसत्ता जीवन का एक ढंग है

इस सिद्धान्त का एक अंग यह है कि कोई भी व्यक्ति दूसरों के आनन्द का केवल एक साधनमात्र नहीं समझा जा सकता। लोकसत्ता के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-विकास का समान सुयोग आवश्यक रूप से मिलना चाहिए। लोकसत्तात्मक शासन इस आदर्श का राजनीतिक प्रतिरूप है और उसे निरन्तर कार्यरूप में परिणत करने का एक साधन है। लोकसत्तात्मक जीवन का मौलिक अर्थ वही है जो वास्तविक नागरिक जीवन का। लोकसत्तात्मक शासन नागरिक जीवन को प्राप्त करने का साधन है। उसकी बदौलत समाज में सहयोग करने का अधिकाधिक अवसर मिलता है। उसका उद्देश्य सब लोगों का अधिक से अधिक कल्याण करना है।

जैसा ऊपर कहा गया है लोकसत्ता एक प्रकार की शासन-

प्रणाली भी है। किन्तु इस रूप में उसका प्रबन्ध करना आसान नहीं है। प्राचीन काल को और विशेषतः आधुनिक युग की जनसंस्थाओं के इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि लोकसत्तात्मक शासन की सफलता विधानों की पूर्णता पर नहीं बल्कि वातावरण की परिस्थितियों तथा जनता के कुछ गुणों पर निर्भर करती है। यदि इन चीज़ों का अभाव है तो यह ख़तरा रहेगा कि शासन का अधिकार कहीं सैनिक नायकों, धनाढ्यों, कम योग्यता के व्यावसायिक राजनीतिज्ञों अथवा किसी तानाशाह के हाथों में न चला जाय। ऐसा हो जाने पर लोकसत्तात्मक विधान लाभजनक होने के बदले हानिकारक सिद्ध होगा।

लोकसत्तात्मक शासन की आवश्यकतायें

यह संकेत पहले ही किया जा चुका है कि सैनिकवाद के साथ लोकसत्ता का कोई मूल नहीं है। जब तक विभिन्न जातियों का सम्बन्ध बल के आधार पर स्थापित रहेगा तब तक लोकसत्ता को संसार में सुन्दर सुयोग नहीं मिल सकता। दूसरों को समझाना-बुझाना तथा दूसरों की बातों को मानने के लिए तैयार रहना ही लोकसत्ता का आधार है। वह बल-प्रयोग का पूर्ण विरोधी है। बड़ी बड़ी स्थायी सेनाएँ कभी कभी जनसंस्थाओं को अपने साथ ले डूबती हैं। सीमाप्रान्त के उस पार फ़ौजों, जहाज़ी बेड़ों और बम बरसाने वाले हवाई जहाज़ों के उपस्थित रहने

शान्ति

से लोगों को ख़तरे का भय रहता है। अतः वे दृढ़ अथवा सैनिक शासन को स्वीकार कर लेते हैं।

दूसरे, लोकसत्तात्मक शासन अपने वास्तविक अर्थ में अत्यधिक सम्पत्ति अथवा घोर निर्धनता के साथ भी संगति नहीं खाता। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सब लोगों की आमदनी को बिलकुल बराबर देखना चाहता है। हाँ, वह यह ज़रूर मानता है कि समाज में किसी को इतना निर्धन न रहना चाहिए कि वह आसानी के साथ दूसरे की अधीनता स्वीकार कर ले, और साथ ही किसी को इतना धनवान न होना चाहिए कि वह बड़ी सुगमता के साथ दूसरों पर अपनी प्रभुता जमा ले। किसी भी अवस्था में, जब तक निर्धनता समाज में क़ायम रहेगी तब तक लोकसत्तात्मक शासन का संचालन ठीक से नहीं हो सकेगा। निर्धन व्यक्ति अपनी निर्धनता के कारण इतना हैरान रहता है और परिश्रम के भार से इतना दबा रहता है कि न तो उसे अपने मस्तिष्क का विकास करने और राजनीति में भाग लेने का समय मिलता है और न इसके लिए उसके अन्दर कोई इच्छा ही रह जाती है। आवश्यक आर्थिक सुविधा, जिसे हम कुछ पीछे वास्तविक नागरिक जीवन के लिए अनिवार्य बतला आये हैं, लोकसत्तात्मक शासन का भी एक आवश्यक आधार है।

निर्धनता का अभाव

तीसरे, लोकसत्तात्मक शासन के लिए पर्याप्त सामान्य शिक्षा भी अपेक्षित है। राजनीतिक समस्याओं को समझना

सदैव कठिन होता है। आजकल उनका समझना और भी अधिक कठिन हो गया है। वे बहुत जटिल और गुरुतर हो गई हैं क्योंकि आधुनिक युग में विशेषज्ञता का बोलबाला है।

बुद्धि

कूटनीति, आर्थिक व्यापारों तथा सांस्कृतिक प्रभावों का विस्तार संसार-व्यापक हो गया है। विशेषज्ञों, का जो इन प्रश्नों के अध्ययन में अपना सारा जीवन लगा देते हैं, आपस में मतभेद है। साधारण मनुष्य तो इन प्रश्नों के समझने में अपने को बिलकुल असमर्थ पाता है। वह अपने को एक अथाह समुद्र में निमग्न पाता है। वास्तव में साधारण व्यक्ति से आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों की सभी छोटी मोटी बातों पर कुछ निश्चित मत रखने की आशा ही नहीं की जा सकती। किन्तु लोकसत्तात्मक शासन उसमें इतनी योग्यता की आशा ज़रूर करता है कि वह नीति-सम्बन्धी बड़े बड़े प्रश्नों पर अपना मत बुद्धिमानी के साथ प्रकट कर सके और वोट माँगने वाले उम्मीदवारों की योग्यता को न्यूनाधिक ठीक ठीक परख सके। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि देशव्यापी प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय और उच्च शिक्षा का व्यापक प्रचार किया जाय। एक सच्चे और ज्ञानविज्ञ समाचार-पत्र की भी आवश्यकता है जो लोगों तक ठीक ठीक समाचार पहुँचा सके। शिक्षा के सुदृढ़ आधार पर ही लोकसत्तात्मक शासन सुरक्षित रूप से अवलम्बित रह सकता है।

चौथे लोकसत्तात्मक शासन के लिए यह आवश्यक है कि सब लोग आपस में मिलकर काम करने की आदत डालें अन्यथा सरकार दृढ़ और कार्यकर नहीं हो सकेगी।

सहयोग

लोगों में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वे आवश्यक और ग़ैर-आवश्यक बातों में भेद कर सकें, छोटे मोटे मतभेद को भुला सकें, सभी बातों में समझौता कर सकें और एक दूसरे पर विश्वास कर सकें। श्रेणी और सम्पत्ति की विभिन्नताओं की बात तो दूर रही, धर्म और संस्कृति-सम्बन्धी विभिन्नताओं को भी सामान्य सहयोग में बाधक न होने देना चाहिए। सहिष्णुता सामाजिक जीवन का नियम हो जाना चाहिए।

कुछ और भी नैतिक गुण हैं जिनकी आवश्यकता लोकसत्तात्मक शासन को होती है। उनकी बदौलत मनुष्य सब तरह की शक्ति और सभी प्रकार का प्रभाव हासिल कर सकता है। ईमानदारी से काम करने का मतलब यह है कि सभी बालिग़ व्यक्ति जिन्हें मताधिकार प्राप्त है, निर्वाचन के समय अपना वोट दें; स्थानीय बोर्डों तथा व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य जिनकी संख्या हज़ारों में है, निर्वाचकों के हितों का ठीक से प्रतिनिधित्व करें उनके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करें और हज़ारों की तादाद में वे व्यक्ति जो शासन-प्रबन्ध के काम में हाथ बँटाते हैं ज़िम्मेदारी के साथ अपने कार्य का सम्पादन

ईमानदारी

करें। लोकसत्तात्मक शासन-प्रणाली—जिसके अन्दर लोगों पर बड़ी ज़िम्मेदारी रहती है—अपनी सफलता के लिए न केवल ऊँचे दर्जे की योग्यता पर ही निर्भर करती है बल्कि ऊँचे दर्जे की ईमानदारी पर भी। मतदाताओं, शासन के विभिन्न विभागों के मंत्रियों तथा व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों को घूस, पक्षपात तथा अन्य सांसारिक प्रलोभनों से परे रहना चाहिए और साथ ही उन्हें अपने कार्यों को बहुत होशियारी के साथ करना चाहिए। अब राजनीति और शासन के काम में उच्च कोटि की ईमानदारी सम्भव नहीं रह गई है क्योंकि जीवन के अन्य क्षेत्रों के मान नीचे गिर गये हैं। अन्य क्षेत्रों की स्थिति से प्रभावित न होकर किसी एक क्षेत्र में मान को ऊँचा बनाये रखना असम्भव तथा अव्यवहार्य है। राजनीति में सदाचरण सम्भव करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले अन्य सभी क्षेत्रों में ऊँचा मान स्थापित किया जाय।

स्वराज्य की प्रबल इच्छा

लोकसत्तात्मक शासन के लिए यह बात भी कम आवश्यक नहीं है कि जनता के हृदय में आत्म-शासन अथवा स्वराज्य की प्रबल इच्छा हो। यदि लोग राजनीतिक दृष्टि से सुस्त और मुर्दादिल हैं, यदि वे स्वतन्त्रता के प्रेमी नहीं हैं तो ऐसी दशा में या तो वे राजनीतिक शक्ति—अर्थात् स्वराज्य के अधिकार—को प्राप्त ही न कर सकेंगे या अपने हाथ में उसे

सुरक्षित न रख सकेंगे। वह अधिकार स्वभावतः उन लोगों के हाथों में पड़ जायगा जो उसे चाहते हैं। महाकवि गेटे (Goethe) के इस कथन में एक महान् सत्य छिपा हुआ है कि "स्वतन्त्रता को बार बार, घंटे घंटे पर प्राप्त करते रहना आवश्यक है"। लोगों को अपने अधिकारों का उपयोग और दायित्वों का निर्वाह करने के लिए सदा सजग, सावधान तथा तत्पर रहना चाहिए। अगर लोगों में स्वराज्य के प्रति इतनी आसक्ति नहीं है तो फिर राजनीति में उन लोगों की प्रभुता हो सकती है जिन्हें अपना स्वार्थ-साधन करना रहता है। वह गुण जिसे सार्वजनिक सेवा का उत्साह कहते हैं लोकसत्तात्मक शासन-प्रणाली का एक प्रधान आधार ही है।

सार्वजनिक सेवा का उत्साह

संक्षेप में लोकसत्तात्मक-शासन की पूर्ण सफलता शान्ति, सहयोग, सहिष्णुता, ईमानदारी, सार्वजनिक सेवा की भावना, जन-साधारण की शिक्षा और रहन-सहन के ऊँचे मान पर तथा उच्च शिक्षा के व्यापक प्रचार पर निर्भर है। अगर इन अपेक्षित गुणों तथा अवस्थाओं का एकदम अभाव हो तो लोक-सत्ता की स्थापना की कोई आशा नहीं की जा सकती। किन्तु वास्तव में उन वस्तुओं का कहीं पूर्ण अभाव नहीं होता। इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि उन गुणों का समु-

स्वराज्य का विस्तार

चित विकास किया जा सकता है और उन अवस्थाओं को भी पैदा किया जा सकता है। वर्तमान समय में मनुष्य के हाथ में जो साधन प्रस्तुत हैं उनके उपयोग से निर्धनता का निराकरण और शिक्षा का देशव्यापी प्रचार हो सकता है। यही नहीं, उन साधनों के द्वारा यह काम इतने अल्प समय में किया जा सकता है जिसका कि पूर्ववर्ती युग वाले कभी स्वप्न में भी ख्याल नहीं कर सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि शान्ति और सहिष्णुता का राज्य स्थापित करने के लिए नैतिक उद्योग की आवश्यकता है लेकिन ज्ञान और आर्थिक हित की उन्नति से उसमें बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

लोकसत्तात्मक-करण

किन्तु इस सम्बन्ध में पाठकों को सावधान कर देना आवश्यक है ताकि उक्त विवेचना से वे जल्दी में ग़लत परिणाम न निकाल बैठें। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह परिणाम कदापि नहीं निकलता कि राजनीतिक संस्थाओं को लोकसत्ता के आधार पर संगठित करने का काम तब तक के लिए स्थगित कर देना चाहिए जब तक कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति ईमानदार, शिक्षित और सार्वजनिक सेवा की भावना से युक्त न हो जाय और पृथ्वी पर शान्ति और सहिष्णुता का राज्य न स्थापित हो जाय। वास्तव में आदर्श परिस्थिति के स्थापित हो जाने के पूर्व ही लोकसत्तात्मककरण प्रारम्भ कर देना चाहिए। इसके तीन कारण हैं। पहला कारण तो यह है

कि पूर्णतया विकसित लोकसत्ता के लिए जो परिस्थितियाँ आवश्यक हैं उनकी स्थापना में लोकसत्तात्मककरण की प्रक्रिया स्वयं सहायक होती है। वह स्वयं शिक्षा का साधन है और शिक्षाप्रद राजनीतिक वादविवाद को जन्म देता है। वह सार्वजनिक सेवा की भावना को जाग्रत करता है और सबके दिमाग़ में यह बात बैठा देता है कि ऊँचे दर्जे की ईमानदारी की आवश्यकता अनिवार्य है। यह लोगों को सभाओं, समुदायों तथा वोट देने के स्थानों में एक दूसरे के घनिष्ट सम्पर्क में लाता है और सहयोग एवं सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र को विस्तृत बना देता है। उसकी बदौलत लोग आर्थिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति के लिए ज़ोर देना अथवा आन्दोलन करना सीख जाते हैं। यह नये नये कामों और विचारों को जन्म देता है और सामाजिक जीवन को अधिक सम्पन्न बना देता है। संयुक्त-राज्य अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के गत १५० वर्ष के इतिहास का अध्ययन करने के बाद हम वास्तव में इसी परिणाम पर पहुँचते हैं।

लोकसत्ता तथा अन्य प्रणालियाँ

दूसरी बात यह है कि लोकसत्तात्मक शासन प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित होते हुए भी कभी कभी राजसत्ता तथा वर्गशासन से अच्छा होता है। यह कठिन है कि ऐसे बादशाह अथवा तानाशाह एक के बाद दूसरे मिलते रहें जो जनता के सब हितों को समझें और उपयुक्त नीतियों को कार्यान्वित करें। अगर वे ऐसा करें भी तो वे उस आत्म-सम्मान को नहीं

बढ़ा सकते जो राजनीतिक जिम्मेदारियों के साथ आता है। वास्तव में राजसत्ता को चापलूसों तथा स्वार्थियों के गुट्ट से उतना ही ख़तरा रहता है जितना कि लोकसत्ता को अनुदार दलों तथा उच्छृङ्खल-समुदाय के नेताओं से। वर्गशासन की अवस्था तो और भी अधिक शोचनीय होती है। उसकी संकीर्णता से सदा ईर्ष्या-द्वेष और लड़ाई-झगड़ा लगा रहता है। अपने संकीर्ण घेरे के बाहर स्थित लोगों के हितों की उपेक्षा करना उसके लिए सबसे आसान काम होता है।

लोकसत्ता के सुधार के उपाय

तीसरी बात यह है कि लोकसत्ता के पास अपनी त्रुटियों के सुधारने का एक तरीक़ा है। राजसत्ता अथवा वर्गशासन के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वे अपने दोषों का निराकरण नहीं कर सकते। लोकसत्ता के अन्तर्गत जब घोर बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं तो लोकमत उनके विरुद्ध प्रबल आन्दोलन करता है और बुराइयों को दूर कर देता है। इसके अतिरिक्त, लोकसत्तात्मक शासन-प्रणाली के अन्दर राजसत्ता या वर्गशासन की अपेक्षा सरकारें अधिक आसानी से बदली जा सकती हैं। जिसको राजसत्ता या वर्गशासन क्रान्ति के नाम से पुकारेंगे वह लोकसत्तात्मक शासन में एक साधारण घटना मानी जाती है।

इसलिए यथार्थ परिणाम यह निकलता है कि शासन को लोकसत्तात्मक बनाने के लिए और सर्वसाधारण जनता को आर्थिक तथा शिक्षा की अवस्था में सुधार करने के लिए

एक साथ उद्योग करना चाहिए। यह भी उचित है कि लोगों को निश्चयात्मक रूप से राजनीतिक शिक्षा दी जाय। यह काम असल में राजनीतिक गोष्ठियों तथा समुदायों का है। यह उन्हीं का कर्त्तव्य है कि राजनीतिक प्रश्नों के अध्ययन और वादविवाद का प्रबन्ध करें और यह सुझायें कि किस विषय में कौन सी नीति अख्तियार की जाय। उन्हें चाहिए कि सामाजिक तथा आर्थिक अवस्थाओं की जाँच-पड़ताल करने, तथ्यों का संग्रह करने तथा उनसे वैज्ञानिक ढंग से परिणाम निकालने के लिए एक अनुसंधान-विभाग की स्थापना करें। उन परिणामों का प्रचार किया जा सकता है ताकि लोकमत उन्हीं के आधार पर संगठित हो। यही वास्तव में राजनीतिक शिक्षा है। उन व्यवस्थित अथवा अव्यवस्थित समुदायों के द्वारा जिन्हें दल कहते हैं, राजनीतिक शिक्षा का काम अब तक अनेक देशों में किया जा चुका है। किन्तु वह काम कुछ लापरवाही और उत्तेजना के साथ किया गया है।

राजनीतिक समुदाय

दल का संगठन अकेले एक सिद्धान्त पर किया जा सकता है किन्तु साधारणतः वह अपने लिए एक विस्तृत आधार खोजता है और अनेक सिद्धान्तों के सामञ्जस्य के आधार पर संगठित होता है। राज्य के निवासियों की वास्तविक अथवा कल्पित जातीय विभिन्नतायें दल का एक आधार रह चुकी

दल और उनके आधार

है। ये विभिन्नतायें कभी कभी धर्म और भाषा की विभिन्नताओं से सम्बद्ध होती हैं। किन्तु अकसर धर्म और भाषा की विभिन्नतायें—दोनों अलग अलग अथवा संयुक्त रूप से—एक ही जाति के लोगों के पृथक् पृथक् दलों का आधार बनती हैं। दलों के अभ्युदय में श्रेणी अथवा वर्ण एक दूसरा साधन है। सभ्यता-संस्कृति की विभिन्नताओं के आधार पर भी दल संगठित होते हैं। मतभेद का एक प्रधान आधार आर्थिक हितों की विभिन्नता है। जो लोग समझते हैं—चाहे उनका समझना ठीक हो या ग़लत—कि हम लोगों के आर्थिक हित एक हैं और हमारे हित दूसरे लोगों के हितों से विभिन्न हैं, वे कभी कभी अपने कार्यक्रम को अग्रसर करने और यथा-संभव अधिक से अधिक राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए आपस में मिलकर एक दल संगठित कर लेते हैं। कुछ लोग एकसी शिकायतों और आकांक्षाओं के कारण भी राजनीतिक कार्य के लिए आपस में मेल कर लेते हैं और उनका एक दल बन जाता है। अकसर उनका सम्बन्ध आर्थिक और सांस्कृतिक हितों से भी होता है। प्रकृति की विभिन्नतायें राजनीतिक दल-बंदी के लिए एक या अनेक आधार उपस्थित करती हैं। कुछ लोग स्वभावतः सजग होते हैं और फूँक फूँक कर आगे क़दम रखते हैं और कुछ लोग साहसिक होते हैं। पहले तरह के लोग तो चाहते हैं कि हम जिस अवस्था में हैं उसी में बने रहें। उन्हें परिवर्तन पसन्द नहीं है। दूसरी तरह के लोग संगठन में नये

नये प्रयोगों की परीक्षा करना चाहते हैं। अँगरेज़ी में एक पद्य है जिसका अर्थ यह है कि प्रत्येक बालक और बालिका जो इस संसार में जीवित पैदा होता है या तो कुछ उदार होता है या कुछ अनुदार अथवा स्थितिपालक।

वास्तव में स्थितिपालकता और उग्रपंथ की विभिन्न मात्रायें होती हैं। इसलिए केवल प्रकृति की विभिन्नताओं के आधार पर दो से अधिक दल आविर्भूत हो सकते हैं। विश्वास के आधार पर अवलम्बित रहने वाले सच्चे मतभेदों को उत्पन्न करने के लिए प्रकृति विशुद्ध बुद्धि के साथ मिल जाती है। ये मतभेद दल-सङ्गठन के बहुत अच्छे आधार हो सकते हैं बशर्ते कि विश्वास सार्वजनिक हित से सम्बन्ध रखते हों केवल साम्प्रदायिक हित से नहीं।

कभी कभी बड़े बड़े राजनीतिज्ञ पद के लिए लालायित होते हैं और अपने हितों के साथ कुछ और लोगों को शामिल कर लेते हैं। इस प्रकार दल पैदा हो जाते हैं। कभी कभी निरा व्यक्तिगत प्रभाव दल के सङ्गठन का कारण हो जाता है। परम्परागत रीति-रस्मों का बल भी दलों के सङ्गठन का एक आधार होता है। जिन प्रश्नों के कारण दलों की उत्पत्ति होती है उनके स्थिर हो जाने और अतीत का विषय बन जाने के बहुत दिनों बाद तक उन दलों का सङ्गठन अकसर बना रहता है और अपना काम किया करता है। आकांक्षायें, कोष और हित जो इसी बीच में दल के साथ उत्पन्न हो जाते हैं, उसको जीवित रखते हैं।

किसी दल की सदस्यता, नीति अथवा सिद्धान्त एकदम से स्थिर या स्थायी नहीं होते। बदलती हुई परिस्थितियों, नये विचारों और कभी कभी व्यक्तिगत प्रभावों के कारण इन सबमें परिवर्तन हो सकते हैं। कुछ दल ऐसे हैं जो समाज की किसी श्रेणी-विशेष के पक्ष का खुल्लमखुल्ला समर्थन करते हैं। कुछ दल सम्पूर्ण समाज के वास्तविक हितों का समर्थन करते हैं। अन्य कुछ समुदायों की भाँति दल भी कभी कभी अन्तर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर लेते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में, यूरोप के अन्दर मज़दूरों के जो दल आविर्भूत हुए थे वे ख़ास कर ऐसे ही थे। कभी कभी दलों के अन्दर भी दल होते हैं। इस प्रकार एक दल के अन्दर राजनीतिक विचार के अनेक श्रेणियों के लोग शामिल हो सकते हैं।

दलों का रूप

प्रत्येक दल के अन्दर सदा कुछ जोशीले सदस्यों का एक छोटा सा समुदाय रहता है। बहुत-से अनुयायी ऐसे रहते हैं जो न्यूनाधिक उत्साहहीन होते हैं। इसके अतिरिक्त समाज के अन्दर जनता का एक बड़ा समुदाय होता है जो दलबन्दी से उदासीन रहता है। इस उदासीन जन-समुदाय के लोग किसी भी राजनीतिक दल से सम्बन्ध नहीं रखते। किन्तु वे विभिन्न समय में एक वा अधिक दलों से सहानुभूति रखते हैं। चुनाव अथवा उत्तेजना के समय विभिन्न दलों के नेता तथा जोशीले

जनता और दल

सदस्य उदासीन जनता को अपने झण्डे के नीचे लाने का प्रयत्न करते हैं। जब जोश और उत्साह बहुत बढ़ जाता है तो सभी दल साधारण रूप से वोटरों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए हर एक प्रकार की युक्ति काम में लाते हैं। इसलिए जातीय, धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा वर्ण-गत विभिन्नताओं के आधार पर दलों का सङ्गठन करना ख़तरनाक है। इसमें निश्चय ही समाज के अन्दर फूट और मतभेद बढ़ जायगा, राजनीतिक समस्याएँ असङ्गत और अप्रासङ्गिक बातों के आवरण से ढक जायँगी, युक्ति और तर्क अन्ध जोश में दब जायगा और सार्वजनिक सहयोग में बाधा पड़ जायगी। जो दल आर्थिक हित की मौलिक विभिन्नता के आधार पर अवलम्बित होते हैं उनमें भी एक ख़तरा दिखाई पड़ता है। सम्भव है कि वे किसी समूह या समुदाय के हित को अग्रसर करने में इतने एकान्तिक रूप से संलग्न हो जायँ कि सार्वजनिक हित की ओर उनका बिलकुल ध्यान ही न जाय। राजनीतिक दृष्टि से सबसे अच्छे दल वे हैं जो प्रकृति और विश्वास की विभिन्नताओं पर अवलम्बित होते हैं किन्तु जिनके उद्देश्य और कार्यक्रम सार्वजनिक हित से सम्बन्ध रखते हैं।

दल राजनीतिक कार्य तथा राजनीतिक शिक्षा के साधन हैं। वे लोकमत को जाग्रत करते और सार्वजनिक मामलों में लोगों की दिलचस्पी को क़ायम रखते हैं। वे निर्वाचक-समुदाय के सामने प्रस्तुत करने के लिए प्रश्नों की छानबीन करते तथा

उम्मीदवारों को चुनते हैं। सभात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत दल मंत्रिमंडल के निर्माण में सहायक होते हैं और पदस्थ मन्त्रियों की आलोचना एवं टीका-टिप्पणी करने के लिए सङ्गठित विरोध उपस्थित करते हैं। वे समाज-सुधार की विशेष योजनायें तैयार करते हैं और उनको स्वीकार कराने के लिए आन्दोलन करते हैं। थोड़ा-सा सोचने-विचारने पर यह प्रकट हो जायगा कि ये कार्य सबसे अच्छी तरह से तब सम्पादित होते हैं जब दलों की संख्या बहुत अधिक नहीं होती और जब वे वर्ण, जाति और धर्म के भेदभाव से बिलकुल अप्रभावित रहते हैं। बहुसंख्यक दल निर्वाचक-समुदाय को गड़बड़ी में डाल देंगे, मन्त्रिमण्डल को अस्थिर बना देंगे और मिश्रित मन्त्रि-मण्डल को बनाने और भंग करने के लिए बहुतेरे षड्यन्त्र पैदा कर देंगे। इसलिए व्यावहारिक समझौते के उन गुणों पर जोर देना आवश्यक है जो दलों की संख्या को बढ़ने नहीं देते। प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राजनीतिक दल अपनी शाखायें बहुत दूर दूर तक फैला देते हैं और बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। कभी कभी तो उनको देखने से यह प्रतीत होता है कि देश पर शासन करने के लिए उन्होंने अपना जाल फैला लिया है। राजनीतिक गोष्ठियों के साथ वे अनेक राजनीतिक समुदाय उत्पन्न कर देते हैं जो सर्वप्रधान राजनीतिक समुदाय 'राज्य' के सञ्चालन में कभी सहायता और कभी बाधा पहुँचाते हैं।

दलों के काम

अन्य राजनीतिक समुदायों की भाँति दलों को भी अनुसन्धान-विभागों की स्थापना करनी चाहिए ताकि वे उन तथ्यों और आँकड़ों का, जिनके आधार पर उन्हें अपना कार्यक्रम बनाना होता है, निश्चयात्मक रूप से ज्ञान प्राप्त कर सकें। राजनीतिक दलों और समुदायों का वास्तविक नागरिक धर्म यह है कि वे राज्य के कर्त्तव्यों के सम्पादन में सहायता दें। सम्पूर्ण समाज के हितों के लिए उन्हें रचनात्मक आलोचना और सहयोग प्रस्तुत करना चाहिए। लोकसत्तात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत वे जनता की इच्छा या मत को संगठित करने, साकार प्रस्तावों के रूप में उसकी व्याख्या करने तथा उसे कार्यरूप में परिणत करने में सहायक होते हैं।

राज्य का कार्य-क्षेत्र

लोगों को स्वराज्य चाहे जिस मात्रा में प्राप्त हो, कुछ कर्त्तव्य ऐसे हैं जिनका सम्पादन करने के लिए प्रत्येक राज्य अथवा यों कहिए कि प्रत्येक सरकार—राज्य और सरकार इस प्रसंग में एक ही हैं—नैतिक रूप से बाध्य है। समय के अनुसार राज्य या सरकार के कर्त्तव्यों का ठीक ठीक रूप बदलता रहता है। जो १०० अथवा सिर्फ़ ५० वर्ष पूर्व उचित और पर्याप्त समझा जाता था वह आज आवश्यक रूप से वैसा नहीं माना जाता। सरकारों की रहनुमाई का सिद्धान्त वही है—अर्थात् उन अवस्थाओं को समाज में स्थापित करना जो सबके आत्म-विकास के अनुकूल हों। किन्तु परिस्थिति

में परिवर्तन हो जाने से इस सिद्धान्त के लागू होने में धक्का पहुँचता है। कोई सरकार किसी व्यक्ति को सुखी या प्रसन्न करने अथवा उसकी सर्वोत्तम शक्तियों का विकास करने के लिए विवश नहीं कर सकती। प्रसन्न बनाना और विवश करना ये दोनों विरोधी बातें हैं। सुख और आत्म-विकास अंशतः उन आन्तरिक भावनाओं का कार्य है जिन्हें कोई बाहरी चीज़ स्पर्श नहीं कर सकती। वह नियंत्रण पर नहीं बल्कि स्वतन्त्रता पर निर्भर करता है और उसके अस्तित्व को पहले से ही मान लेता है। सरकार का कर्त्तव्य है कि बाह्य अवस्थाओं को वह इस प्रकार संगठित करे और लोगों को ऐसी सुविधायें प्रदान करे जिनकी सहायता से सबको सुन्दर और सुखमय जीवन प्राप्त हो जाय।

राज्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने को जीवन की बाह्य अवस्थाओं तक ही सीमित रक्खे। इसके अतिरिक्त

राज्य-कार्य के सिद्धान्त

उसके कार्य पर और कोई बन्धन नहीं है। सुन्दर जीवन की अवस्थाओं की वृद्धि के लिए वह जो कुछ भी कर सकता है, उसे करना चाहिए। अगर राज्य जनता के हित को अग्रसर करने के लिए अपनी सारी शक्ति और अपने सारे साधनों का उपयोग नहीं करता और हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त के पीछे पनाह लेता है तो वह ठीक से अपने कर्त्तव्य

का पालन नहीं करता। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों में कुछ दार्शनिकों ने यह तर्क उपस्थित किया था कि अगर राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत होगा तो जनता में उत्साह, स्वतन्त्रता तथा सहजप्रवृत्ति न रह जायगी। किन्तु अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि राज्य के क़ानूनों की अपेक्षा निर्धनता[१], अज्ञान[२], रोग तथा अन्य बाधाओं से लोगों की अधिक हानि होती है और उनके विकास में अधिक अवरोध पहुँचता है। राज्य के क़ानून तो इन बाधाओं को दूर करने के लिए बनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि लोकसत्तात्मक-करण द्वारा शासन के कार्यों में जनता का सहयोग प्राप्त किया जाय। ऐसी अवस्था में राज्य का कार्य और जनता का कार्य अधिकांशतः समानार्थक हो जायगा। राज्य का यह अनिवार्य नैतिक कर्त्तव्य है कि वह उपयुक्त जीवन के मार्ग की रुकावटों को दूर करे। यह कार्य स्वयं राज्य के लिए एक बड़ा कार्यक्रम उपस्थित कर देता है। किन्तु राज्य को इतने से ही सन्तोष नहीं करना चाहिए बल्कि उसे और आगे बढ़ना

१—(क) सर्वशून्या दरिद्रता। (ख) निर्धनता सर्वापदामास्पदम्
(ग) धनेन बलवांल्लोके धनाद्भवति पंडितः। (घ) यस्यार्थाः स पुमाल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः।

२—अशिक्षा और अज्ञान से होनेवाली हानियों को दृष्टि में रखकर ही एक संस्कृत कवि ने लिखा है :—

(क) माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।

चाहिए। उसे सार्वजनिक हित के लिए एक प्रत्यक्ष कार्यक्रम हाथ में लेना चाहिए। यह कथन विशेषकर उन सामाजिक कार्यों के सम्बन्ध में लागू होता है जिनका सर्वोत्तम सम्पादन बड़े पैमाने पर होता है और जिनको अपने हाथ में लेने के लिए राज्य स्पष्टतः सबसे अधिक उपयुक्त है।

शिक्षा

उपरोक्त विवेचना से यह बात प्रकट हो गई है कि अनुमान में आने योग्य कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसे राज्य ने किसी न किसी समय में और किसी न किसी देश में न किया हो। अब यह विचार करना आवश्यक है कि जीवन की आधुनिक अवस्थाओं में किन किन कार्यों को अपने हाथ में लेना राज्य के लिए सर्वोत्तम होगा। इस सम्बन्ध में प्रथम स्थान शिक्षा को देना होगा[१]। हम पहले ही देख चुके हैं कि शिक्षा सुन्दर जीवन का आधार है। हम यह भी कह चुके हैं कि शिक्षा को देशव्यापी होना चाहिए। जीवन की वर्तमान परिस्थितियों में वह थोड़े-से लोगों के विलास की वस्तु नहीं है बल्कि सबके लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। शिक्षा अपनी सभी शाखाओं के साथ—प्रारम्भिक, माध्यमिक, उच्च, बालिका तथा शिल्प-सम्बन्धी—जिसके अन्तर्गत पुस्तकालयों, अजायबघरों, अनुसन्धान-परिषदों आदि की व्यवस्था भी

१—सर्व द्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।

शामिल है, एक ऐसा बृहद् कार्य है जिसे कुछ लोगों के व्यक्तिगत उद्योग पर नहीं छोड़ा जा सकता। राज्य का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि उसकी योजना एक बड़े पैमाने पर करे, उसके लिए स्थानीय बोर्डों तथा गैर-सरकारी संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करे और आवश्यक धन दे। राज्य का यह भी उचित है कि शिक्षा-प्रणाली में सुधार करने के लिए लगातार कोशिश करे। हम पहले ही कह चुके हैं कि आधुनिक युग में प्रत्येक राज्य को शिक्षा के लिए इस प्रकार तत्पर रहना चाहिए मानो वह उसी के लिए स्थापित किया गया है।

दूसरा बड़ा कार्य अथवा कार्य-समूह जिसे राज्य को अपने हाथ में लेना चाहिए आवश्यक आर्थिक सुविधा से सम्बन्ध रखता है। यह आवश्यक आर्थिक सुविधा शिक्षा के साथ मिलकर नागरिक जीवन का आधार बनती है। प्रत्येक देश में निर्धनता को दूर करना तथा सर्वसाधारण जनता के जीवन के रहन-सहन को जहाँ तक सम्भव हो ऊँचा करना आवश्यक है। अतः यह भी जरूरी है कि समाज की सम्पत्ति की वृद्धि की जाय, प्रत्येक व्यक्ति से जिसका शरीर स्वस्थ है काम कराया जाय और प्रत्येक को सामाजिक लाभ में उचित भाग लेने दिया जाय। इन सब कामों के लिए न केवल राज्य की आन्तरिक व्यवस्था के सगठन की आवश्यकता है बल्कि आधुनिक परिस्थितियों में

आवश्यक आर्थिक सुविधा

पर्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी अपेक्षित है। यह बात स्पष्ट है कि देशव्यापी सुधार की महान योजना अनियन्त्रित व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्विता पर नहीं छोड़ी जा सकती। राज्य को उसे अपने हाथ में लेना चाहिए और अपनी सम्पूर्ण शक्ति और साधनों से अग्रसर करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आर्थिक व्यापारों पर पर्याप्त सामाजिक नियंत्रण होना चाहिए।

यहाँ इस बात का फिर से उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा कि राज्य ने सम्पत्ति पर सदा कुछ न कुछ नियन्त्रण रक्खा है। उसने ज़मीन की मिलकियत,

आर्थिक नियन्त्रण

उत्तराधिकार तथा एकाधिकार आदि का नियमन किया है और करों के रूप में सामाजिक सम्पत्ति का कुछ भाग अपने हाथों में ले लिया है। किसी देश की आयात तथा निर्यात की विभिन्न वस्तुओं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित अथवा निरुत्साहित करने के लिए अनेक बार कर-प्रणाली का उपयोग किया गया है। आधुनिक युग में आर्थिक जीवन का नियन्त्रण और भी बढ़ गया है। औद्योगिक क्रान्ति ने कार्यों के विस्तार को इतना अधिक बढ़ा दिया है और मालिकों, प्रबन्धकों, मज़दूरों एवं उपभोक्ताओं के सम्बन्धों को इतना जटिल बना दिया है कि राज्यों को विवश होकर कई नये काम अपने हाथ में लेने पड़े हैं। अनेक राज्यों ने अपने यहाँ फ़ैक्टरी क़ानून पास किये हैं। इन क़ानूनों ने यह नियम कर दिया है कि कुछ ख़ास उद्योग-

धन्धों के अन्दर और कुछ निर्दिष्ट समय पर बच्चों और स्त्रियों से काम न लिया जाय। ये क़ानून मज़दूरों के काम के घण्टे स्थिर करते हैं और काम करने की अवस्थाओं का नियमन करते हैं। न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित करने, वृद्धावस्था में पेंशन की व्यवस्था करने, बीमारी, आकस्मिक घटना तथा बेकारी के बीमे का नियमन करने के लिए और क़ानून भी पास किये गये हैं। अनेक राज्यों ने मज़दूर-सङ्घ जैसे व्यावसायिक समुदायों के सम्बन्ध में तथा औद्योगिक झगड़ों के समझौते के लिए भी क़ानून पास किया है। अधिकांश राज्य और भी अधिक आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने कुछ आर्थिक कामों को प्रत्यक्षतः अपने हाथ में ले लिया है। वे डाकघरों, तारघरों, टेलीफोनघरों तथा रेलों का सञ्चालन करते हैं। प्रत्येक राज्य चलन और विनिमय की व्यवस्था करता है। युद्ध के समय अथवा अन्य किसी सङ्कट-काल में राज्य सम्पूर्ण आर्थिक जीवन का और भोजन, दूध, चीनी आदि वस्तुओं का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लेते हैं। स्थानीय बोर्ड जो राज्य ही के एक अङ्ग हैं, भाड़े पर ट्रामगाड़ी चलाते और पानी, दूध, गैस तथा बिजली आदि का प्रबन्ध सभी नागरिकों के लिए करते हैं। वे बाग़ लगाते हैं, खेल-कूद के मैदान तैयार करते हैं तथा घर, स्नानागार, तैरने के पोखरे और बस्तियाँ बनाते हैं। अनेक राज्यों ने डाक, पुस्तकों के स्वाधिकार तथा काम करने के घण्टों आदि के विषय में, अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों पर हस्ताक्षर किया है।

इस प्रकार विदित होता है कि राज्य आर्थिक जीवन पर इस समय भी बहुत कुछ नियन्त्रण रखते हैं। नागरिक आदर्श चाहता है कि यह नियन्त्रण व्यवस्थित किया जाय और दूरदर्शिता से काम लिया जाय ताकि प्रत्येक व्यक्ति निर्धनता से मुक्त हो जाय।

उत्पादन और वितरण

संक्षेप में, राज्य को कृषि-सुधार के लिए सङ्गठित उद्योग करना चाहिए। उसे सिंचाई के लिए बड़े पैमाने पर प्रबन्ध करना चाहिए और नहरों, बाँधों, पोखरों, तथा नलयुक्त कुँओं की व्यवस्था अधिक संख्या में करनी चाहिए। उसे स्थान स्थान पर अच्छा खाद, अच्छे बीज और अच्छे औज़ारों के गोदाम स्थापित करना चाहिए। इन चीज़ों के उपयोग को सिखाना और उसका प्रचार करना भी आवश्यक है। राज्य को ज़मीन के बन्दोबस्त की प्रणाली में सुधार करना भी उचित है। उसे इस बात का ज़िम्मा अपने ऊपर ले लेना चाहिए कि किसानों के जान-माल को किसी तरह का ख़तरा नहीं होने पाएगा। उसे सहकारी क्रय, विक्रय और साख को प्रोत्साहन देना चाहिए। यदि इन उपायों का अवलम्बन किया जायगा तो उसका फल यह होगा कि धन की बहुत वृद्धि हो जायगी और कृषक-समुदाय सम्पन्न हो जायगा। इसके अतिरिक्त राज्य को देश के औद्योगिक साधनों की जाँच-पड़ताल करनी चाहिए, उनकी उन्नति की सम्भावना का अन्दाज़ लगाना चाहिए और उपयुक्त स्थानों पर फ़ैक्टरियों की स्थापना में प्रोत्साहन देना

चाहिए। राज्य को संसार के प्रत्येक भाग से आर्थिक समाचार एकत्रित करना चाहिए और उसे सुव्यवस्थित रूप में जनता के सामने प्रस्तुत करना चाहिए। उसे औद्योगिक लोगों में सहयोग और मेल बढ़ाना चाहिए ताकि परिश्रम की बरबादी तथा अनावश्यक प्रतिद्वन्द्विता न होने पावे। उसे शिल्प-शिक्षा तथा अनुसन्धान-कार्य को भी संगठित करना चाहिए। उसे जाँच-पड़ताल करके यह पता लगाना चाहिए कि घरेलू उद्योग-धन्धों की कहाँ तक उन्नति हो सकती है और विद्युत्शक्ति को देहात में ले जाने से कहाँ तक लाभ हो सकता है? इस प्रकार कम से कम परिश्रम के द्वारा पर्याप्त मात्रा में माल तैयार करना सम्भव होगा। कृषि तथा उद्योग के द्वारा पैदा किये हुए धन का उचित वितरण निश्चित रूप से होता रहे, इसके लिए यह क़ानून बना देना चाहिए कि किसान और मज़दूर दोनों को आराम की ज़िन्दगी बसर करने के लिए काफ़ी धन और मनोरञ्जन तथा बुद्धि के विकास के लिए पर्याप्त अवकाश मिलना चाहिए। सब देशों में मज़दूरों के काम के घण्टों को बाँधने के लिए तथा वास्तविक मज़दूरी को एक निर्दिष्ट मान के नीचे जाने से रोकने के लिए अन्तराष्ट्रीय समझौता करना भी आवश्यक है। ऐसा करने से यह सम्भव नहीं रह जायगा कि एक देश के कारबारी लोग आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता में पड़कर दूसरे देश के कारबारियों से कम दाम पर अपनी चीज़ें बेचें और इस प्रकार सब जगह मज़दूरी के मान को नीचे गिरा दें। यहाँ पर यह बतला देना असंगत न होगा

कि अगर किसानों और मज़दूरों की आमदनी बढ़ जायगी तो उनके नये ख़र्च भी बढ़ जायँगे और इस प्रकार उद्योग, व्यवसाय तथा साहूकारी (बैंकिंग) को अपूर्व प्रोत्साहन प्राप्त हो जायगा। इस सम्पूर्ण आर्थिक नीति के लिए भूमि तथा औद्योगिक कारबार पर राज्य के पर्याप्त नियन्त्रण की आवश्यकता है। किन्तु यह राज्य के कर्त्तव्य का एक अभिन्न अङ्ग है। वह कर्त्तव्य निर्धनता को दूर करके तथा जीवन के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करके राज्य के सभी लोगों को आवश्यक आर्थिक सुविधा प्रदान करना है।

यातायात

जिस प्रकार की आर्थिक उन्नति का निरूपण यहाँ किया गया है वह अंशतः यातायात के उपयोगी और द्रुतगामी साधनों—सड़क, रेल, जहाज़, हवाई जहाज़, डाक, तार, टेलीफ़ोन तथा बेतार के तार—पर निर्भर करती है। इनमें कुछ तो ऐसे हैं जो कि—जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं—गाँवों में नागरिकता का पूर्ण वातावरण उत्पन्न करने के लिए भी आवश्यक हैं। यातायात के इन साधनों के द्वारा शिक्षा की पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। वे जीवन की सुविधाओं को बहुत बढ़ा देते हैं। यातायात के सुन्दर साधनों को प्रस्तुत करने तथा सुरक्षित रखने का काम इतना गुरुतर है कि अधिकांशतः उसका सम्पादन प्रत्यक्ष रूप से राज्य के द्वारा होना आवश्यक है। उस कार्य के जिस अंश का सम्पादन वह प्रत्यक्ष रूप से न करे उस पर राज्य

का नियन्त्रण रहना चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यातायात के साधनों को व्यवस्था करना राज्य का तोसरा महान् कर्त्तव्य है।

सार्वजनिक स्वास्थ्य

दूसरा बृहद् कार्य जो राज्य की ओर से होना चाहिए सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति करना है। संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, नार्वे और स्वीडन आदि अनेक देशों में गत १०० वर्ष के अन्दर स्वास्थ्य तथा दीर्घ जीवन की बड़ी उन्नति हुई है। किन्तु भारत तथा चीन जैसे कुछ अन्य देशों में उनके मान अब भी बहुत नीचे हैं। राज्य जैसे संगठित समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति के लिए ख़ूब आन्दोलन करे। शिक्षा, यातायात की सुविधायें तथा रहन-सहन का काफ़ी ऊँचा दर्जा इस आन्दोलन के प्रबल सहायक होंगे। अन्य संस्थाओं के सहयोग से राज्य, नगर और देहात दोनों जगह, महामारियों को रोकने के लिए बहुत कुछ कर सकता है। यह आवश्यक है कि दलदलों को सुखाया जाय, घातक बीमारियों को रोका जाय, कूड़ा-करकट को वैज्ञानिक रीति से हटाया जाय, शुद्ध जल का प्रबन्ध किया जाय, चारों ओर सफ़ाई का इन्तिज़ाम किया जाय और उन बाज़ारों का निरीक्षण किया जाय जहाँ खाद्य पदार्थ बिकते हों। स्वास्थ्य के नियमों के ज्ञान का प्रचार करना भी आवश्यक है क्योंकि मरज़ का रोकना मरज़ को अच्छा करने से बेहतर है। लेकिन चूँकि कुछ

आदमियों का बीमार होना निश्चित है इसलिए राज्य तथा ग़ैर-सरकारी संस्थाओं को चाहिए कि दवाख़ाने, अस्पताल, शिशु-गृह तथा आश्रम स्थापित करें। इस कार्य में सभी नागरिकों का सक्रिय सहयोग अत्यधिक वाञ्छनीय है—वाञ्छनीय ही नहीं बल्कि वास्तव में अनिवार्य है। किन्तु सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति के लिए समाज के साधनों का संगठित करना और एक योजना तैयार करना यह राज्य का कर्त्तव्य है।

देशव्यापी शिक्षा और आर्थिक कल्याण की व्यवस्था करना न्याय के शासन-मार्ग पर काफ़ी दूर तक आगे बढ़ जाना है। सामाजिक न्याय की रक्षा के लिए राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह अन्य उपायों का भी अवलम्बन करे। धर्म, संस्कृति, रक्षा, एक दूसरे से मिलने-जुलने तथा सार्वजनिक सभा में सम्मिलित होने आदि की स्वतन्त्रता के जो अधिकार नागरिकों को प्राप्त हैं उनमें अगर कोई हस्तक्षेप करता हो तो राज्य को रोकना चाहिए। नागरिकों के इन अधिकारों के साथ कुछ शर्तें भी हैं जिनकी विवेचना पीछे एक स्थान पर की जा चुकी है। फलतः शान्ति की रक्षा के लिए तथा अपराध को रोकने और उसका पता लगाने के लिए राज्य को पुलिस-विभाग का प्रबन्ध करना आवश्यक है। यही नहीं, दीवानी और फ़ौजी मामलों को सुनने के लिए, आवश्यक क्षतिपूर्ति कराने तथा उचित दण्ड देने के लिए उसे अदालतों की स्थापना भी करनी चाहिए।

शान्ति तथा न्याय

समाज की स्थापना के पूर्व प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य जैसा आचरण करता था दण्ड उसी आचरण को प्रकट करता है। इस प्रकार दण्ड में बदला लेने का भाव सन्निहित है। लेकिन उससे और मतलब भी निकलते हैं। वह अपराध को रोकने वाला है। दण्ड की सम्भावना अथवा उदाहरण बहुतों को अपराध करने से रोकता है। अपराधियों का सुधार करने में भी दण्ड सहायक हो सकता है। यह बात खासकर छोटे बच्चों तथा ऐसे लोगों के सम्बन्ध में सत्य है जो प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर अपराध करते हैं। बहुत-सा अपराध प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निर्धनता, बच्चों के अनुचित पालन-पोषण तथा दोषपूर्ण आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं के कारण होता है। अतः दण्ड को पूर्ण रूप से प्रतिशोधात्मक अथवा निषेधात्मक बनाना उचित नहीं है। दण्ड की व्यवस्था में अपराधी के हित का ख्याल भी होना चाहिए। उसे अच्छा जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देनी चाहिए और ईमानदारी के साथ जीविका कमाने के योग्य बनाने के लिए उसे कोई दस्तकारी सिखानी चाहिए। बच्चों को अपराध-पूर्ण आचरण से बचाने के लिए कोई उद्योग उठा न रखना चाहिए। अतः राज्य का कर्त्तव्य है कि वह न केवल जेल खोले बल्कि बाल-अपराधियों के आचरण को सुधारने के स्कूल भी स्थापित करे। जो अपराधी लड़के चेतावनी देकर छोड़ दिये गये हों अथवा

दण्ड

जो अपनी पूरी सज़ा काट चुके हों उनकी देख-रेख करने के लिए युवक निरीक्षकों को नियुक्त करना चाहिए। छूटे हुए अपराधियों को सुमार्ग पर लाने के लिए राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह छूटे हुए क़ैदियों की सहायक समितियों को प्रोत्साहन दे।

समाज-सुधार

सामाजिक न्याय कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो सदा एक रूप में ही स्थिर रहे। अदालतों में न्याय का प्रबन्ध करना तथा शान्ति को बनाये रखना ही, उसका एकमात्र काम नहीं है। सामाजिक न्याय चाहता है कि सभी सामाजिक व्यवस्थायें सबको समान सुयोग देने के सिद्धान्त के अनुसार होनी चाहिएँ। इससे यह नतीजा निकलता है कि समाज की उन्नति अथवा विकास न्याय से ही होता है। अकसर असमानताओं को कम करने तथा न्याय की रुकावटों को दूर करने के लिए आन्दोलनों का आविर्भाव होता है। स्थूल रूप से हम इनको समाज-सुधार का आन्दोलन कह सकते हैं। जब कभी ऐसे आन्दोलन हों, राज्य का कर्त्तव्य है कि आन्दोलनकारियों की कुछ माँगों को स्वीकार कर उनसे समझौता कर ले, उनका दमन करने को कोशिश न करे। जब कभी लोकमत स्पष्ट रूप से किसी दिशा में सुधार के लिए अपनी आवाज़ उठाये तो राज्य को उपयुक्त क़ानून पास कर देना चाहिए। सरकार को समाज-सुधार में कब नेतृत्व ग्रहण करना चाहिए और कब नहीं, यह बात परिस्थितियों पर निर्भर करती है। किन्तु किसी

भी दशा में उसे सुधार-आन्दोलन का विरोध नहीं करना चाहिए। इस सामान्य नियम का ख़्याल रखकर राज्य को विवाह, स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार, उत्तराधिकार तथा ऋण-ग्रस्त लोगों की स्थिति आदि विषयों पर क़ानून बनाना चाहिए। समाज-सुधार के अन्तर्गत हम शराब, अफ़ीम, कोकीन जैसी नशीली चीज़ों के क्रय-विक्रय को रोकने या नियमित करने-वाले क़ानूनों को भी शामिल कर सकते हैं। इस प्रकार की बुराइयाँ इतनी व्यापक हो सकती हैं और उनसे ऐसे घोर दुष्परिणाम हो सकते हैं कि क़ानून-द्वारा उनको कम करना राज्य का परम धर्म हो जाय। ऐसे काम को स्वतन्त्रता पर आक्रमण करना नहीं कहा जा सकता। शराबख़ोरी साधारणतः इतनी कमज़ोर बना देने वाली चीज़ होती है कि वह शक्ति की और अतः स्वतन्त्रता की जड़ को भी नष्ट कर देती है। शराबख़ोरी को रोकने के लिए क़ानून बनाना वास्तव में एक प्रकार से स्वतन्त्रता की अवस्थाओं को क़ायम करना है।

प्रत्येक राज्य को दूसरे राज्यों के सम्बन्ध में भी कुछ कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। ये कर्त्तव्य अब और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण हो गये हैं क्योंकि याता-

अन्तर्राष्ट्रीय मामले

यात के साधनों ने सभी देशों को एक कर दिया है। आज एक देश में जो बात घटित होती है वह दूसरे देशों के कल्याण पर बड़ा प्रभाव डालती है। किसी देश में ख़ूब पैदावार होना, दूसरे

का आयात-निर्यात कर तीसरे में बराबर कई घंटों तक काम करना या कम मज़दूरी होना—ये सब चीज़ें अपना प्रभाव बहुत दूर-दूर तक डालती हैं। प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि सारे संसार में रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा बनाये रखने के लिए अनुकूल अवस्थाओं को क़ायम करने में दूसरे देशों से सहयोग करे। प्रत्येक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों के साथ मेल से रहना चाहिए, उनके अधिकारों का आदर करना चाहिए और उनके साथ न्याय तथा समानता का बर्ताव करना चाहिए। राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार में युद्ध और अन्याय को स्थान नहीं मिलना चाहिए। जब मतभेद पैदा हों तो लड़ाई करने के बजाय राज्य को उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अथवा पंच के सामने पेश करना चाहिए। किन्तु अगर कोई राज्य दूसरे पर आक्रमण करने के लिए तुला ही हो तो दूसरे राज्यों का कर्त्तव्य है कि आक्रमण न होने दें। आक्रमणकारी राज्य निर्वासित व्यक्ति की भाँति समझा जाय और उससे आर्थिक तथा व्यौपारिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया जाय। अगर इतने पर भी सफलता न मिले तो सब राष्ट्रों को मिलकर आक्रमण-कारी राज्य के विरुद्ध युद्ध घोषित कर देना चाहिए।

इन सब बातों के लिए एक ऐसा संगठन आवश्यक है जो कि वर्तमान राष्ट्रसंघ से अधिक प्रभावशाली हो। जिन लोगों ने १९१९ ई० में राष्ट्रसंघ की स्थापना की थी उन्हें आशा थी कि यह फ़ैसले और पंचायत से युद्ध का निराकरण कर देगा।

किन्तु वह आशा अभी तक पूरी नहीं हो सकी है। आजकल संसार के बड़े-बड़े राष्ट्र अपने अस्त्र-शस्त्र बढ़ा रहे हैं और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की आशा उत्तरोत्तर दूर होती

रक्षा

जा रही है। जब तक सैनिकवाद का ज़ोर रहेगा और जब तक न्याय और सहयोग पर अवलम्बित अन्तर्राष्ट्रीय समझौता कार्यान्वित नहीं होगा तब तक छोटा या बड़ा प्रत्येक राज्य अपनी रक्षा का प्रबन्ध करना अपना परम कर्त्तव्य समझेगा। वह एक सुसज्जित सेना, जहाज़ी बेड़ा तथा हवाई सेना रखने की कोशिश करेगा। रक्षा करना सदा राज्य का एक प्रधान कर्त्तव्य माना गया है। किन्तु जो सैनिक संगठन राज्य की रक्षा का समुचित साधन था उसका उपयोग अकसर दूसरों पर आक्रमण करने, 'दूसरों से राज्य छीनकर अपना राज्य बढ़ाने तथा दूसरों के अधिकारों को कुचलने के लिए किया गया है। वास्तव में इसी ख़तर के कारण रक्षा का सवाल पैदा होता है। फलतः लोकमत का कर्त्तव्य है कि आक्रमण करने वाला चाहे भी जो हो वह आक्रमण की निन्दा करे और उसके विरुद्ध आवाज़ उठाये।

सर्वसाधारण में शिक्षा-प्रचार, आर्थिक कल्याण, यातायात के साधन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, समाज-सुधार, शान्ति, रक्षा, न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—ये वर्तमान काल में राज्य के कर्त्तव्य के मुख्य मुख्य विषय हैं। इसके अतिरिक्त छोटे-मोटे अन्य कर्त्तव्यों को भी गणना कराई जा सकती है। किन्तु उक्त बड़े-बड़े कर्त्तव्य ही राज्य के सामने एक बृहद् कार्य खड़ा कर देत हैं। उसके

सम्पादन के लिए बहुत सोच-विचार करने, साधनों का ठीक से विकास करने, सावधानी के साथ नीति निर्धारित करने तथा सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में संगठन करने की आवश्यकता है। यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि इस कार्य में सफलता लाभ करना नागरिकों के हार्दिक तथा निरन्तर सहयोग पर निर्भर करता है। नागरिकों को सामाजिक कल्याण में लाभदायक योग देने के लिए अपनी शक्तियों का अधिकाधिक विकास करना चाहिए। उनको इस योग्य होना चाहिए कि वे शासन के कार्यों में अपनी सुविज्ञ निर्णय-बुद्धि द्वारा योग दें और शिक्षा का प्रचार करने, न्याय एवं आर्थिक हित को अग्रसर करने तथा नागरिक हित से सम्बन्ध रखने वाले अन्य कार्यों के सम्पादन करने में शक्ति भर सहयोग करें। लोकसत्तात्मक शासन का गुण यह है कि वह नागरिक को इस योग्य बना देता है कि राज्य के दृष्टिकोण को वह अपना दृष्टिकोण बनावे और यथाशक्ति उसके कार्यों में योग दे। किन्तु केन्द्रीभूत राज्य को, चाहे वह कितना भी लोकसत्तात्मक हो अपने रोज़मर्रा के कामों में तथा उनको स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने में जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि अधिकार को विकेन्द्रित किया जाय और शासन के पर्याप्त अधिकार स्थानीय बोर्डों के हाथ में सौंप दिये जायँ। अतः आवश्यक है कि अब हम स्थानीय स्वायत्त शासन के प्रश्न की विवेचना करें।

नागरिकों का सहयोग

नवाँ अध्याय

पड़ोस

प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक है कि वह अपने गाँव या नगर के प्रति अनुराग रक्खे। वह अपने विचारों तथा कार्यों के द्वारा देश अथवा संसार के दूसरे भागों के घनिष्ट सम्पर्क में आ सकता है। वह अपने अनेक हितों, सहानुभूतियों तथा मस्तिष्क का विकास इस तरह कर सकता है कि अपने को सम्पूर्ण संसार का एक नागरिक समझने लगे। किन्तु इससे उस स्थान के प्रति, जहाँ वह अपना अधिकांश जीवन व्यतीत करता है, उसकी भक्ति या निष्ठा साधारणतः कम नहीं हो जाती। यह उचित भी नहीं है कि वह अपने पड़ोस के मामलों में दिलचस्पी लेना छोड़ दे। उसे वास्तव में चाहिए कि वह उन मामलों को अपने कार्यक्रम में इस प्रकार शामिल कर ले कि देश या संसार के हितों को हानि न पहुँचे। उसे अपने पड़ोस के मामलों में दिलचस्पी क़ायम रखनी चाहिए। यही नहीं, उनके प्रबन्ध में उसे अपनी शक्ति और विचार-बुद्धि से योग देना

पड़ोस के प्रति भक्ति

चाहिए। सहानुभूतियों का विकास करने, परमार्थ को जाग्रत करने—अथवा संक्षेप में यों कहिए कि व्यक्ति को स्वार्थ के घेरे से बाहर निकालने में—कुटुम्ब के बाद पड़ोस ही सबसे अधिक सहायक होता है।

यह स्थानीय स्वराज्य का नैतिक आधार है। स्थानीय जनता को काफ़ी स्वतन्त्रता या स्वराज्य क्यों मिलना चाहिए

स्थानीय आवश्यकताएँ

इसके शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी अनेक कारण हैं। पहली बात तो यह है कि गाँवों, नगरों अथवा ज़िलों की परिस्थितियाँ विभिन्न होती हैं। अतः उनके लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्था की ज़रूरत होती है। स्थानीय बोर्डों के द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति सबसे अच्छी तरह हो सकती है क्योंकि वे स्थानीय परिस्थितियों से सबसे अधिक परिचित होते हैं। प्रान्तीय व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित नीति का पालन करने के लिए वे बाध्य होते हैं। किन्तु उस नीति को कार्यान्वित करने के लिए—चाहे वह शिक्षा-सम्बन्धी हो अथवा सफ़ाई, स्वास्थ्य तथा लोकोपकारी कार्यों से सम्बन्ध रखती हो—स्थानीय विशेषताओं के अनुसार उपनियमों तथा क़ानूनों की ज़रूरत पड़ती है। इस सम्बन्ध में स्थानीय बोर्डों को इतना अधिक अधिकार दिया जा सकता है कि उनके शासन-प्रबन्ध में भाग लेने के लिए योग्य तथा सार्वजनिक सेवा का भाव रखने वाले व्यक्ति आकर्षित हो

सकें। इस प्रकार स्थानीय स्वराज्य का उपयोग शासन को उत्तम बनाने तथा शासन-कार्य के लिए अपेक्षित ज्ञान की कमी को पूरा करने के हेतु किया जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के अधिकार-प्रदान से केन्द्रीय व्यवस्थापिका तथा कार्यकारिणी का काम कुछ हलका हो जायगा। वर्तमान परिस्थितियों में सरकार को इतने अधिक विषयों पर क़ानून बनाना पड़ता है और इतने अधिक विभागों का प्रबन्ध करना होता है कि उसके सिर पर काम का एक भारी बोझ लदा रहता है।

केन्द्रीय सरकार को सहारा

अगर सरकार को स्थानीय मामलों की सभी छोटी-मोटी बातों को भी देखना पड़े तो उसे बुरी तरह से असफलता मिले। खूब संगठित और अपने कार्य में दक्ष व्यवस्थापिका सभायें भी बहुसख्यक स्थानीय कार्यों के भार को नहीं सह सकेंगी। कम से कम वे बड़े बड़े महत्त्वपूर्ण कार्यों को उतावलेपन एवं असावधानी के साथ और असन्तोषप्रद रूप से करने के लिए ज़रूर विवश हो जायँगी। स्थानीय स्वराज्य इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के बोझ को कम कर देता है और एक सहारा हो जाता है। वह अधिकारों और कर्त्तव्यों में समुचित रूप से सामञ्जस्य स्थापित रखने में सहायक होता है। स्थानीय बोर्ड प्रारम्भिक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा छोटे-मोटे लोकोपकारी कार्यों को अपने हाथ में ले सकते हैं

और उस हद तक केन्द्रीय सरकार के बोझ को हलका कर सकते हैं।

तीसरी बात यह है कि स्थानीय बोर्ड कुछ ऐसे कार्यों को करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं जिन्हें साधारणतः सामूहिक रूप से म्यूनिसिपल व्यापार कहा जाता है। उदाहरणार्थ, वे ट्रामगाड़ी लेकर भाड़े पर चला सकते हैं अथवा नागरिकों को शुद्ध जल देने के लिए जलघर (वाटर वर्क्स) खोल सकते हैं। इसी प्रकार नागरिकों को सुन्दर प्रकाश देने की व्यवस्था करने के लिए बिजलीघर स्थापित कर सकते हैं। दुग्धशाला का प्रबन्ध करके सबको शुद्ध दूध पहुँचा सकते हैं। बाज़ार खोल सकते हैं। गाड़ियों और मोटरों को लाइसेन्स लेने के लिए मजबूर कर सकते हैं। गाँवों अथवा नगरों की उन्नति कर सकते हैं तथा अपने अधिकारक्षेत्र के अन्दर घाट उतराई का नियंत्रण कर सकते हैं। वे नाट्यशाला, संगीत-भवन तथा सिनेमाघर खोलकर लोगों का सुन्दर मनोरंजन कर सकते हैं। आज संसार के उन्नतिशील देशों में यह सब काम स्थानीय बोर्डों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार स्थानीय बोर्ड जनता की महत्त्वपूर्ण सेवायें कर सकते और शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य विषयों की उन्नति के लिए धन भी उपार्जन कर सकते हैं। लाभजनक व्यवसायों के अतिरिक्त

म्यूनिसिपल व्यापार

स्थानीय अधिकारीगण उपयुक्त स्थानों में पुस्तकालय, अजायबघर, चित्रशाला, व्यायामशाला, खेल-कूद के मैदान, पार्क तथा उद्यान स्थापित कर सकते हैं और उनका उपयोग करने के लिए उपयुक्त नियम बना सकते हैं। यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि ऐसे मामलों का प्रबन्ध प्रान्तीय या केन्द्रीय सरकार के सदर मुक़ाम से भली भाँति नहीं किया जा सकता।

अन्तिम बात यह है कि स्थानीय स्वराज्य राजनीतिक शिक्षा देने का एक बड़ा साधन है। गाँव अथवा नगर वह परिचित वातावरण प्रस्तुत करता है जिसे अरस्तू ने लोकसत्तात्मक शासन का सर्वोत्तम आधार कहा है। बड़े पैमाने पर उत्तर-दायित्वपूर्ण शासन का संचालन करने के लिए स्थानीय स्वराज्य शिक्षा देने का एक स्थल है। स्थानीय स्वायत्त शासन के क्षेत्र में बहुत-से आदमी यह सीख सकते हैं कि संगठन किस प्रकार किया जाता है, शासन में क्या क्या कठिनाइयाँ पैदा होती हैं और शासन के लिए ज्ञान, बुद्धि तथा सचाई कितनी आवश्यक है। स्थानीय स्वराज्य के द्वारा वे यह भी सीख जाते हैं कि आपस में किस प्रकार सहयोग करना चाहिए, आवश्यक तथा ग़ैर आवश्यक कामों में कैसे भेद करना चाहिए और व्यावहारिक मामलों में किस तरह समझौता करना चाहिए। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक कल्याण के प्रति लोगों में दिलचस्पी पैदा करने और उसे क़ायम रखने के लिए

दायित्व की शिक्षा

स्थानीय स्वायत्तशासन सबसे अच्छा साधन है। बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों में आदमी समझता है कि इस विशाल जन-समुदाय में मेरी कोई हस्ती ही नहीं है। गाँव या नगर के अन्दर वह अपने को किसी काम का समझ सकता है। वह अपने पड़ोस के मामलों को जितनी अच्छी तरह से समझ सकता है उतनी अच्छी तरह से राष्ट्रीय मामलों को समझने की आशा उससे नहीं की जा सकती। वह अपने पड़ोस के लोगों से सम्पूर्ण देश के लोगों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से परिचित हो सकता है। फलतः वह साधारण समय में राष्ट्रीय हितों की बनिस्बत स्थानीय हितों का समर्थन अधिक तत्परता के साथ करेगा। जब एक बार नागरिक जीवन के इस प्रारम्भिक क्षेत्र में इन सबक़ों को सीख लेगा तो वह अधिक योग्य हो जायगा और नागरिकता के सभी कर्त्तव्यों का पालन अधिक उत्तमता के साथ कर सकेगा। स्थानीय संस्थायें सार्वजनिक जीवन की पाठशाला हैं।

भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में स्वायत्त शासन का प्रारम्भ स्वभावतः गाँव से ही होना चाहिए। वास्तव में, जब तक

गाँव

गाँव वालों को कुछ अधिकार नहीं दिया जाता तब तक स्थानीय स्वराज्य की कोई भी योजना पूर्ण नहीं कहला सकती और न उसका आधार ही दृढ़ हो सकता है। प्रत्येक गाँव अथवा पास-पड़ोस के छोटे छोटे गाँवों का संघ, स्वायत्त-शासन का

मूल आधार है। यहाँ पर प्रत्यक्ष लोकसत्तात्मक शासन की प्रणाली कार्यान्वित हो सकती है। इस प्रकार का प्रारम्भिक प्रजातन्त्रशासन अनेक देशों में—ख़ासकर स्विटज़रलैण्ड तथा संयुक्तराज्य अमेरिका में—बहुत दिनों तक सफलतापूर्वक संचालित किया जा चुका है। उनका अनुभव संगठन के कुछ सामान्य सिद्धान्तों की ओर निर्देश करता है। गाँव या ग्राम-संघ के सभी बालिग़ों को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, साधारण जन-सभा में बैठने और सभा के सामने रक्खे हुए मामलों पर वोट देने तथा कमेटियों और कर्मचारियों के चुनाव में भाग लेने का अधिकार मिलना चाहिए। मताधिकार सब लोगों को जाति-पाँति, मत या पेशा के भेद-भाव के बिना ही समान रूप से मिलना चाहिए। किन्तु पागल, मूर्ख, नैतिक अपराध के लिए दण्डित व्यक्ति और चुनाव-सम्बन्धी अपराध में सज़ा पाये हुए व्यक्ति को मताधिकार नहीं दिया जा सकता। ये व्यक्ति वोटर होने के अयोग्य समझे जाते हैं। जन-सभा को सभी सार्वजनिक प्रश्नों का निर्णय करना चाहिए। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा लोककल्याणकारी काम आदि विषयों का प्रबन्ध करने के लिए उसे समितियाँ चुन लेनी चाहिएँ। अन्य समितियों के कामों में सामञ्जस्य करने और शासन को आवश्यक केन्द्रीयता प्रदान करने के लिए एक बड़ी समिति भी होनी चाहिए। इस समिति को भी निर्वाचित होना चाहिए। इन

साधारण जन-सभा

समितियों के अध्यक्ष अथवा मन्त्रियों का चुनाव जनसभा अथवा समितियाँ स्वयं कर सकती हैं। सभी स्थानों के लिए संगठन की कोई एक योजना निर्धारित नहीं की जा सकती। मुख्य बात यह है कि जनसभा को पूर्णरूप से लोकसत्तात्मक होना चाहिए। अगर लिंग, जाति, मत अथवा पेशे की विभिन्नता के आधार पर बन्धन लगाये जायँगे तो ग्रामीण जीवन की शान्ति और एकता बहुत ख़तरे में पड़ जायगी। ईर्ष्या-द्वेष, अन्याय-अत्याचार तथा शिकायतों का बाज़ार गरम हो जायगा। जनसभा ज्ञान, अनुभव तथा विचार के अधिकांश साधनों से वंचित रह जायगी। इसका मतलब यह है कि योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति जनसभा में नहीं सम्मिलित होंगे। जो लोग जनसभा के सदस्य नहीं होंगे वे उसके निर्णयों का पालन नहीं करेंगे।

इसके विपरीत, जनसभा शासन के छोटे-मोटे सभी कार्यों को करने के उपयुक्त नहीं है। फलतः इन कामों को समितियों और कर्मचारियों के हाथ में सौंप देना चाहिए। ग्राम पाठशाला तथा अन्य संस्थाओं के साथ एक समिति होनी चाहिए। इस प्रकार बहुत-से लोगों को शासन-सम्बन्धी कार्य का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हो जायगा और वे बड़े बड़े, सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करने के योग्य हो जायेंगे।

समितियाँ

गाँव के अन्दर छोटे-मोटे झगड़ों के फ़ैसले की व्यवस्था

करना भी वाञ्छनीय है। अगर निर्णायकों के निर्वाचित करने का अधिकार लोगों को दे दिया जायगा तो यह बात स्पष्ट है कि उसमें ख़तरे होंगे। उनकी स्वतन्त्रता मारी जायगी और लोग उन पर सन्देह करने लगेंगे, चाहे सन्देह उचित हो अथवा अनुचित। अतः अच्छा होगा कि बड़ी कमेटी का अध्यक्ष या उसी दर्जे का अन्य कर्मचारी अथवा ज़िला के अधिकारी एक निर्दिष्ट काल—दो या तीन साल—के लिए गाँव के निर्णायकों की एक तालिका नामज़द कर दें।

फ़ैसला

यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है कि भारत जैसे देश के लिए शिक्षित, सम्पन्न तथा सुखमय ग्राम्य जीवन संगठित करना जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है उतनी महत्त्वपूर्ण और कोई भी वस्तु नहीं है। इतिहास को देखने से पता लगता है कि सभी युगों में देहात पर नगर की प्रभुता अनुचित मात्रा में स्थापित रही है। किन्तु अब यातायात के नये साधनों तथा कृषि-सुधार की नई आशाओं की बदौलत, समाज के संगठित जीवन में उचित स्थान पाने का अवसर गाँव के लिए आ गया है। स्वराज्य की संस्थाओं के द्वारा ग्रामीणों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। स्वराज्य की संस्थाओं की सहायता के बिना भी यह सम्भव है कि कृषि के औज़ारों और मशीनों के क्रय-विक्रय तथा उपयोग के लिए ग्रामीणों की सहकारी

ग्राम्य जीवन का पुनःसङ्गठन

समितियाँ स्थापित की जायँ। सहकारी क्रय-विक्रय तथा सहकारी साख के द्वारा महाजन की सूदखोरी और दलाल का अधिक फ़ायदा उठाना बहुत कुछ कम हो जायगा। उनके द्वारा गाँव वालों की परेशानी के अनेक कारण दूर हो जायँगे, उनकी वास्तविक आमदनी बढ़ जायगी और साथ ही सहयोग करने की आदत पड़ जायगी।

नगर में स्वायत्त शासन के सुयोग अधिक विस्तृत हैं किन्तु उसमें प्रारम्भिक कठिनाई भी है। साधारणतः वह शासन कुछ अनुराग और भक्ति की अपेक्षा रखता है।

नगर और उसकी समस्यायें

किन्तु नगर इतना बड़ा हो सकता है कि नागरिक एक दूसरे से परिचित न हो सकें। वास्तव में नगरों के अन्दर पास-पड़ोस के रहने वाले ज़िन्दगी भर एक दूसरे से अपरिचित रह सकते हैं। लन्दन तथा न्यूयार्क अथवा कलकत्ता एवं बम्बई जैसे नगरों की विशालता उस घनिष्ट सामूहिक जीवन का विकास नहीं होने देती जो गाँवों में स्वभावतः उत्पन्न होता है। लन्दन और पेरिस जैसे आधुनिक नगरों को वार्डों में विभक्त करने की योजनाओं को बहुत कम सफलता मिली है। बड़ा नगर सभ्यता की एक समस्या है। उसमें सुरक्षित और द्रुतगामी यातायात के साधनों की ज़रूरत होती है। अपने को स्वस्थ बनाये रखने के लिए उसे खुले मैदानों और पार्कों की आवश्यकता होती है। उसे पीने, धोने और नहाने के लिए

शुद्ध जल की आवश्यकता बहुत अधिक मात्रा में पड़ती है। उसमें नालियों और मोरियों की सुन्दर व्यवस्था होनी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मकानों का प्रश्न है। बहुसंख्यक नगरों में अकसर मकानों की या मकान बनाने के लिए ज़मीन की कमी रहती है। फलतः बहुत-से ग़रीब आदमी शहर के गन्दे और घने भागों में जहाँ तंग गलियाँ और टूटे फूटे मकान या झोपड़े होते हैं रहने के लिए मजबूर हो जाते हैं। एक एक कमरे में कई कुटुम्ब रहकर गुज़र करते हैं। कभी कभी तो बीस या तीस व्यक्ति एक ही कमरे में रहते देखे गये हैं। हम आसानी से कल्पना कर सकते हैं कि इस तरह का रहना स्वास्थ्य, शक्ति तथा आचरण के लिए कितना दुष्परिणामजनक है। मकानों की कमी का परिणाम यह होता है कि किराये बहुत बढ़ जाते हैं और मध्य श्रेणी के बहुत-से लोगों को छोटी छोटी कोठरियों से ही संतोष करना पड़ता है। इन कोठरियों में न तो रोशनी आती है और न ताज़ी हवा। कौटुम्बिक जीवन पर इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। बहुत-से लोग मकानों की कमी या ज़्यादा भाड़े की वजह से अपने परिवारों को अपने गाँवों में ही छोड़ आते हैं।

बड़े नगरों में कष्ट का एक कारण यह भी है कि एक ओर तो अतुल सम्पत्ति भरी पड़ी है और दूसरी ओर बहुत अधिक ग़रीबी है। नगर में रुपयों के ख़र्च करने और उड़ाने के ऐसे सुयोग मिलते हैं कि बहुत-से धनवान व्यक्ति आडम्बरपूर्ण

विलास और ठाट-बाट का जीवन व्यतीत करते हैं। ग़रीब आदमी जब अपनी क़िसमत का मुक़ाबिला उनकी क़िसमतों से करता है तो वह असल में जितना ग़रीब है उससे भी ज़्यादा ग़रीब अपने को समझता है। इस तरह वह अपनी अवस्था को आवश्यकता से अधिक शोचनीय बना लेता है।

मनोवैज्ञानिक कठिनाइयाँ

नागरिक जीवन की एक दूसरी विशेषता से यह कष्ट और बढ़ जाता है। वह विशेषता नगर की चहल-पहल और धूम-धाम है। विशाल जन-समूह, बहुत तेज़ी से दौड़ती और खड़खड़ाती हुई ट्राम गाड़ियाँ, मोटरें तथा दूसरी सवारियाँ, देर तक काम करना, प्राकृतिक दृश्य के साथ सम्पर्क का अभाव—ये सभी उसको धीरे धीरे शक्तिहीन और जर्जर बना देते हैं। थके और तंग आदमियों को अपनी परेशानियों को भूलने तथा शरीर को आराम देने के लिए शराब पीने, जूआ खेलने, सस्ते और हीन श्रेणी के सिनेमा देखने तथा अन्य प्रकार के बुरे काम करने की आदतें पड़ जाती हैं। इस कारण आचरण, मनोरंजन तथा मादक-द्रव्य-निषेध के महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं।

नगर की समस्यायें बहुत अधिक जटिल और गंभीर हैं। कुछ भले आदमियों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि अगर सब नगर नष्ट हो जायँ तो बहुत अच्छा हो। यह बात फ़ौरन स्वीकार की जा सकती है कि नगरों की विशाल जन-संख्या घटाई जा सकती है। अब बिजली की शक्ति देहातों में भी पहुँचाई जा

सकती है अतः सभी फ़ैक्टरियों को एक ही स्थान पर केन्द्रित होने की ज़रूरत नहीं है। इसके अतिरिक्त लोग अब यातायात की वर्तमान सुविधाओं से लाभ उठा सकते हैं और नगर में केवल निर्दिष्ट समय तक काम करने के लिए जा सकते हैं। अगर गाँव का जीवन और उत्तम बन जाय तो देहात के लोग शहरों में इतनी बड़ी तादाद में न जायें। इस प्रकार बड़े शहर का आकार कुछ छोटा किया जा सकता है किन्तु उसके पूर्णतः लुप्त हो जाने की आशा नहीं की जा सकती। यह वाञ्छनीय भी नहीं है कि नगर एकदम से विलीन हो जायँ। नगर वाणिज्य-व्यापार तथा महाजनी (बैङ्किंग) का केन्द्र है। वह शिक्षा, संस्कृति तथा सभ्यता का भी केन्द्र है। वह लोगों को मिलने-जुलने और भावों का आदान प्रदान करने की सुविधायें देता है जिससे नये नये विचार और कार्यक्रम जन्म लेते हैं। विशाल जन-संख्या जीवन के सुखों को बनाये रखने के लिए आसानी के साथ पर्याप्त बुद्धि, शक्ति और धन का योग दे सकती है। उदाहरणार्थ, जल पहुँचाने के कारख़ाने, नली और मोरियों की प्रणाली, पक्की सड़कें और ट्रामगाड़ियाँ तभी लाभजनक विषय हो सकते हैं जब उनसे लाभ उठाने वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक हो।

नगर का महत्त्व

यह बात उल्लेखनीय है कि बाहर से आने वाले सभी तरह के लोगों को नगर जल्द ही अपने में पूर्णरूप से मिला लेता है। देहात से आया हुआ व्यक्ति थोड़े ही समय में नागरिक जीवन

के वातावरण का आदी हो जाता है। किन्तु नगर-निवासी को अकसर देहात में जीवन व्यतीत करना असम्भव हो जाता है। ग्राम-जीवन के सुधार से यह असमानता कुछ कम ज़रूर हो जायगी लेकिन पूर्णतः लुप्त नहीं हो जायगी। नगर अनिवार्यतः सामाजिक जीवन के एक प्रधान अंग के रूप में बने रहेंगे और ऐसा होना उचित भी है। अतः यह और भी आवश्यक हो जाता है कि उनकी बुराइयों को रोका जाय, उनके जीवन को सुधारा और सङ्गठित किया जाय और उन्हें आनन्द का केन्द्र-स्थल बनाया जाय।

म्युनिसिपल स्व-राज्य के उद्देश्य

इस कार्य के लिए सभी नागरिकों के सहयोग की आवश्यकता है। यही कारण है कि नगर के लिए स्वायत्त-शासन अनिवार्य बतलाया जाता है। नगर के जीवन के लिए इतने काम करने होते हैं, इतने सामञ्जस्य स्थापित करने पड़ते हैं, छोटी-मोटी इतनी बातों को तय करना होता है और इन सब बातों के अतिरिक्त लोगों से इतना अधिक सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता होती है कि केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार उनकी देख-भाल नहीं कर सकती। नागरिकों का कर्त्तव्य है कि राष्ट्रीय योजनाओं तथा नियमों का ख़याल रखते हुए वे यथाशक्ति उद्योग करें और अपने सभी मामलों का प्रबन्ध करें।

एक प्रधान स्थानीय काम नगर का निर्माण करना है। अधिकांश नगर यों ही अपने आप बिना किसी वैज्ञानिक योजना

के बस गये हैं। उनको फ़ौरन नये सिरे से बसाना असम्भव है। लेकिन उनके विस्तार की योजना इस प्रकार सावधानी के साथ वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर की जा सकती है कि उनके अन्दर चौड़ी चौड़ी सड़कें, पार्क, खेल के मैदान और मोरियाँ बन जायँ। वे अंशतः उस उपवन-नगर के समान हो जायँगे जिनकी कल्पना कतिपय आधुनिक विचारकों ने की है। घने आबाद हिस्सों को तोड़कर स्वास्थ्य के समुचित सिद्धान्तों के अनुसार उन्हें फिर से बनाया जा सकता है। अगर यह काम एक पृथक् नगरोन्नति-कारिणी समिति (इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट) के सिपुर्द नहीं कर दिया जाता तो उसकी ज़िम्मेदारी म्युनिसिपैलिटी के अधिकारियों के ऊपर रहेगी। किन्तु यदि नगर में सुधार करने का यह काम उक्त समिति के हाथ में सौंप भी दिया जाय तो भी उसमें म्यूनिसिपल बोर्ड का सहयोग आवश्यक होगा।

नगर-निर्माण

नगर-निर्माण के साथ पर्याप्त संख्या में मकानों की व्यवस्था करने का प्रश्न भी आता है। प्रत्येक म्युनिसिपल बोर्ड का कर्त्तव्य है कि वह अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्दर मकान बनवाने की जगह की जाँच-पड़ताल करे और नागरिकों की आवश्कताओं का अन्दाज़ा लगावे। सभी नागरिकों को उत्तम जीवन व्यतीत करने का अवसर मिले, इसी सिद्धान्त के आधार पर उसे यह सब करना

गृह-निर्माण

चाहिए। नागरिकों को मकान बनवाने के लिए काफ़ी जगह सुलभ होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त म्युनिसिपल बोर्ड को चाहिए कि वह स्वयं आदर्श मकान बनवा कर किराये पर उठावे।

नगर जितना ही बड़ा होगा स्वास्थ्य और सफ़ाई के प्रश्न को हल करना भी उतना ही अधिक आवश्यक होगा। प्रत्येक म्युनिसिपल बोर्ड को कूड़ा-करकट हटाने और सड़कों तथा खुले स्थानों को यथासम्भव साफ़-सुथरा रखने की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। नालियों और मोरियों का भी समुचित प्रबन्ध करना चाहिए। सभी नागरिकों को अपना यह आवश्यक कर्त्तव्य समझना चाहिए कि वे अपने घरों और अहातों को साफ़ रक्खें और पड़ोस को गन्दा न करें। प्रत्येक म्युनिसिपैलिटी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नागरिकों को शुद्ध जल पर्याप्त मात्रा में मिलता है कि नहीं। यह भी आवश्यक है कि बाज़ारों का निरीक्षण किया जाय और सड़े-गले मांस, अनाज और तरकारियों की बिक्री को रोका जाय। खाने-पीने की चीज़ों में मिलावट न करने देना चाहिए। जो लोग ऐसा करें उन्हें उचित दण्ड देना चाहिए। यह नियम बनाकर कार्यान्वित कर दिया जाय कि दूध, मिठाई तथा अन्य चीज़ें रोग फैलाने वाले कीड़ों, मक्खियों और मसों से संक्रामित न होने पावें।

स्वास्थ्य और सफ़ाई

स्कूलों-कालेजों, अख़बारों, व्याख्यानों और प्रदर्शनों के

द्वारा नागरिकों को स्वास्थ्य के नियमों से परिचित कराने का प्रत्येक प्रयत्न करना चाहिए। इस बात को यहाँ हम फिर दुहरा सकते हैं कि बीमारी रोकना अच्छा करने से बेहतर है। इसके अतिरिक्त यह भी वाञ्छनीय है कि दवाख़ाने, अस्पताल, पागलघर, मातृगृह तथा शिशुगृह स्थापित किये जायँ। उनका दाम और शुल्क इतना कम रखना चाहिए कि ग़रीब से ग़रीब आदमी भी उनसे लाभ उठा सकें।

सार्वजनिक स्वास्थ्य

प्रत्येक म्युनिसिपल बोर्ड अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत लोकोपकारी कार्य्यों को समुचित व्यवस्था करने के लिए बाध्य है। सड़कों, पुलों और महराबदार नालियों को अच्छी अवस्था में रखना चाहिए।

लोकोपकारी कार्य

शिक्षा का काम सब कामों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। गाँव तथा म्युनिसिपैलिटी के प्रत्येक बालक और बालिका को अनिवार्य रूप से निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा मिलनी चाहिए। युवकों की शिक्षा की उपेक्षा करना भी ठीक नहीं है। वास्तव में, प्रत्येक ऐसे देश को जहाँ कि अतीत काल में प्रारम्भिक शिक्षा की उपेक्षा की गई हो और जिसके अन्दर अशिक्षित युवकों की संख्या बहुत अधिक हो, इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। परिवर्तन-काल में बालिगों की रात्रि-पाठशालायें सामाजिक उन्नति के लिए इतनी आवश्यक हैं जितने कि बच्चों के स्कूल।

शिक्षा

शिक्षा को जारी रखने वाले स्कूल तो सभी परिस्थितियों में आवश्यक हैं। उनकी बदौलत प्रारम्भिक शिक्षा के लाभ संसार के नीरस जीवन के द्वारा नष्ट नहीं होने पावेंगे। उनके द्वारा युवकगण विद्या और ज्ञान-सम्बन्धी अपनी रुचियों को सुरक्षित रख सकेंगे। यही नहीं, वे नये विचारों और प्रभावों को ग्रहण करने में भी समर्थ होंगे। जैसा कि एक स्थान पर पहले कहा जा चुका है प्रत्येक शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत पुस्तकालयों तथा अजायबघरों की व्यवस्था जरूर होनी चाहिए। म्युनिसिपल बोर्ड विभिन्न मुहल्लों में स्थित स्कूलों के साथ गश्ती पुस्तकालय अथवा ऐसे पुस्तकालय खोल सकता है जहाँ से लोगों को पढ़ने के लिए किताबें दी जायँ। स्कूल के छात्रों को ही नहीं बल्कि स्थानीय लोगों को भी उनका उपयोग करने की इजाजत दे देनी चाहिए। इन लोगों से नाममात्र का शुल्क भी लिया जा सकता है। इसी प्रकार स्कूल के बच्चों को अजायबघर ले जाना चाहिए और तरह तरह की कौतूहलजनक वस्तुओं को उन्हें दिखाना चाहिए। ये अजायबघर वास्तव में स्कूल के उद्देश्य के पूरक बनाये जा सकते हैं। म्युनिसिपल बोर्डों के सामने एक काम यह भी है कि वे माध्यमिक स्कूल तथा शिल्प-पाठशाला खोलें। वास्तव में बड़े नगरों के अन्दर इनकी व्यवस्था करना उनका परम धर्म हो जाता है। प्रत्येक म्युनिसिपल स्कूल में एक सलाहकारी समिति होनी चाहिए। इस समिति में कुछ सदस्य ऐसे हों जो छात्रों के माता-पिता या अभिभावक हों।

ऐसी कमेटी न केवल स्कूल के जीवन में सुधार करने के लिए बहुमूल्य सम्मति ही देगी बल्कि स्कूल के सञ्चालन में बहुत-से नागरिकों का सक्रिय सहयोग भी प्राप्त करेगी। उसके प्रयत्न से बहुत-से लोग स्कूल के मामले में दिलचस्पी लेने लगेंगे।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है पश्चिमी देशों में ऐसे म्युनिसिपल बोर्ड अथवा कारपोरेशन हैं जो मनोरंजन के सस्ते और सुन्दर साधन प्रस्तुत करने के लिए थियेटरों और सिनेमाघरों का संचालन करते हैं। इससे उन्हें कुछ आमदनी भी हो जाती है। किन्तु अर्थोपार्जन उनका प्रधान उद्देश्य नहीं होता। अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि सिनेमा, संगीत-भवन तथा नाट्यशाला ऐसी चीजें हैं जिनसे भलाई और बुराई दोनों हो सकती हैं। वे शिक्षा, वास्तविक मनोरंजन तथा नैतिक आनन्द प्रदान कर सकते हैं। इसके विपरीत, वे कुरुचि की आदतें डाल सकते और पूर्ण अधःपतन के साधन हो सकते हैं। अतः उन पर राज्य की ओर से कुछ नियंत्रण होना उचित है। लेकिन ख़राब संगीत, ख़राब फ़िल्म और ख़राब नाटक के लिए सबसे बढ़िया और कार्यकर उपचार यह है कि उनकी जगह पर सस्ते दामों में सुन्दर फ़िल्म, नाटक आदि की व्यवस्था की जाय। एक सुसंगठित म्युनिसिपल नाट्यशाला कालिदास, भवभूति, शेक्सपियर, बर्नार्ड शा तथा अन्य महान नाटककारों के नाटकों का प्रचार कर सकती है। इसी प्रकार एक सुसंगठित संगीत-भवन भारत तथा अन्य देशों के

थियेटर और सिनेमा

उत्तमोत्तम गानों और राग-रागिनियों का ऐसा परिचय दे सकता है कि लोग उनको समझें तथा तारीफ़ करें। इसी तरह अच्छे फ़िल्म प्राकृतिक दृश्य की रमणीकता, अनेक देशों के जीवन के दर्शनीय पदार्थ तथा वास्तविक कला और शिक्षा से युक्त कथाओं को दिखला सकते हैं। इस प्रकार म्युनिसिपल बोर्ड को पूरा हक़ है कि वे मनोरंजन के साधनों की ओर अपना ध्यान दें।

इसी प्रकार म्युनिसिपल बोर्डों को चाहिए कि वे सार्वजनिक पार्कों और खेल-कूद के मैदानों की व्यवस्था करें।

म्यूनिसिपल व्यौपार

इसके सिवाय वे अनेक प्रकार के व्यवसायों में लग सकते हैं। इससे सार्वजनिक हित भी होगा और साथ ही कुछ आमदनी भी बढ़ जायगी। उदाहरणार्थ, म्यूनिसिपल बोर्ड नागरिकों के लिए बिजली, गैस, दूध, मक्खन आदि का प्रबन्ध कर सकते हैं। वे सड़कों पर ट्रामगाड़ियाँ तथा नदियों या झील में स्टीमर चला सकते हैं।

नगरों, गाँवों अथवा ग्रामसंघों के अलावा स्थानीय स्वायत्त-शासन का एक तीसरा आधार ज़िला है। ज़िले का प्रश्न गाँव

ज़िला बोर्ड

या नगर की समस्या से भिन्न है। नगर की भाँति ज़िला के लोग पास पास नहीं रहते और न वे ठोस अथवा संगठित जीवन ही व्यतीत कर सकते हैं। ज़िले के अन्दर एक बड़ा प्रदेश शामिल

रहता है और बस्तियाँ दूर दूर छिटकी होती हैं। ज़िला अपने निवासियों के अनुराग और भक्ति को फ़ौरन नहीं लाभ कर पाता। उसके लिए इच्छाजात भक्ति नहीं उत्पन्न होती जैसा कि नगरों और गाँवों के लिए होती है। इतना होते हुए भी ज़िला शासन का एक अनिवार्य आधार है। बहुत-से मामले ऐसे होते हैं जिनका प्रबन्ध गाँव या ग्रामसंघ नहीं कर सकते। उन विषयों की व्यवस्था करने के लिए वे बहुत छोटे सिद्ध होते हैं। प्रान्त उनके लिए बहुत बड़े सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, पुलिस, शिक्षा, स्वास्थ्य, सफ़ाई लोकोपकारी कार्य, सिंचाई, कृषि-उन्नति तथा क्रय-विक्रय की योजनाओं में स्थानीय आवश्यकताओं पर अवश्य ही ध्यान देना होगा। इन उद्देश्यों की दृष्टि से ज़िला, शासन का एक अंग या आधार बनने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। ज़िले के लिए इन कार्यों के सम्पादन में जनता का सहयोग प्राप्त करना भी वाञ्छनीय है। इसी कारण ज़िले के लिए पर्याप्त स्वराज्य की आवश्यकता है।

ज़िला बोर्डों से यह आशा की जाती है कि वे ज़िले के लिए उन्हीं कामों को करें जिनकी विवेचना स्वायत्त-शासन-प्राप्त गाँवों तथा नगरों के सम्बन्ध में पहले ही की जा चुकी है। हाँ, आवश्यकतानुसार उनमें कुछ परिवर्तन किया जा सकता है। म्युनिसिपैलिटियाँ उनके अधिकार-क्षेत्र के बाहर हैं। किन्तु गाँव और ग्रामसंघों की पंचायतों से उनका सम्बन्ध अधिक निकट है।

ज़िला बोर्डों के कार्य

ज़िला बोर्ड को हमेशा यह ख्याल रखना चाहिए कि ज़िले में काफ़ी सड़कें और रास्ते हैं कि नहीं; वे अच्छी दशा में रक्खे जाते हैं कि नहीं, यात्रियों के लिए कुवों और पौसालों की कमी तो नहीं है। खेतों को जोतने, खाद देने, सिंचाई करने तथा फ़सल काटने के नये तरीक़ों का प्रचार करने के लिए मेलों और नुमायशों के संगठन पर उन्हें विशेष ध्यान देना चाहिए। क्रय-विक्रय, साख और कृषि के लिए सहकारी समितियों की स्थापना में उन्हें सक्रिय प्रोत्साहन देना चाहिए। स्वास्थ्य और सफ़ाई के सम्बन्ध में जो नियम या उपाय नगरों के साथ लागू होते हैं वे जिलों के लिए भी लागू हो सकते हैं। प्रत्येक ज़िला बोर्ड को चाहिए कि वह गाँवों के पुनःसंगठन में सहायता प्रदान करे। चौड़ी और सीधी सड़कों के तैयार करने, ख़ूब हवादार और रोशनदार मकानों के बनवाने, उनको साफ़ रखने, कूड़ा-करकट को गाँव से कुछ दूर पर जमा करने और तालाबों को यथासम्भव ख़ूब साफ़ रखने की आवश्यकता पर ज़ोर देना चाहिए। उसे दलदलों को सुखाकर खेती करने तथा वैज्ञानिक ढंग से जल के निकास की प्रणाली की व्यवस्था करने का उपाय करना चाहिए। अगर आवश्यक प्रतीत हो तो उसे आस-पास के अन्य ज़िलों के सहयोग से इस काम को करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ज़िला बोर्ड को चाहिए कि सब बच्चों को अनिवार्य रूप से निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा देने की व्यवस्था करे। बालिकाओं के लिए आगे की शिक्षा का प्रबन्ध करना भी उचित है। कृषि और शिल्प की उन्नति के लिए

यह भी आवश्यक है कि शिल्प-शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

स्थानीय बोर्डों का संगठन

स्थानीय बोर्डों का संगठन सब जगह एक ही तरह का नहीं होगा। जन-संख्या, लोगों की शिक्षा तथा बोर्डों के कार्य के अनुसार उसमें अनिवार्य रूप से विभिन्नता होगी। यहाँ पर केवल कतिपय बड़ी बड़ी विशेषताओं का उल्लेख किया जायगा। शासक-समिति अथवा बोर्ड को बालिग़ मताधिकार के आधार पर निर्वाचित करना चाहिए। चुनाव के लिए, नगरों को बोर्डों और ज़िलों को उपयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों में विभक्त कर देना चाहिए। शासक-समिति को अपना सभापति ख़ुद चुनना चाहिए। उसे नीतियों तथा महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय करना चाहिए। विभिन्न विभागों के विस्तृत शासन के काम को कमेटियों के हाथों में सौंप देना सबसे अच्छा होगा। कमेटियों के अधिकारों को निर्दिष्ट कर देना उत्तम होगा। सरकारी नौकरियों में, जहाँ तक सम्भव हो, प्रतियोगिता परीक्षा के द्वारा ही अर्थात् केवल योग्यता के आधार पर भर्ती करनी चाहिए। विभिन्न विभागों की कमेटियों तथा ज़िम्मेदार सरकारी कर्मचारियों के साथ ग़ैर-सरकारी लोगों को सलाहकारी कमेटियाँ नियुक्त कर देना अच्छा होगा।

अगर स्थानीय बोर्डों को अपना सब काम समुचित रूप से करना है तो उनके पास काफ़ी धन का होना आवश्यक है।

उनके लिए आमदनी के अनेक ज़रिये खुले हैं। एक ज़रिया तो यह है कि वे जैसा कि पीछे बतलाया गया है, लाभजनक व्यवसाय कर सकते हैं। इन व्यवसायों से बहुत अधिक लाभ होने की आशा है। दूसरे, बोर्ड कई तरह के कर लगा सकते हैं—जैसे चुंगी, सम्पत्ति तथा हैसियत पर टैक्स, नावों और पुलों का टैक्स। लारी, मोटर, घोड़ा-गाड़ी, साइकिल तथा नाव आदि सवारियों के लाइसेन्स से भी कुछ आमदनी हो सकती है। आमदनी की एक दूसरी शाखा मकान, पानी और सड़क बुहारने का टैक्स है। माध्यमिक पाठशालाओं, अस्पतालों तथा अजायबघरों की फ़ीस से भी काफ़ी धन एकत्रित हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्थानीय बोर्डों को अनेक कार्यों के लिए—विशेषतः शिक्षा के लिए—सरकार से आर्थिक सहायता पाने का अधिकार है। बड़े बड़े ज़िलों के बोर्डों को उत्पादनशील कार्यों के लिए तथा किसी महत्त्वपूर्ण शिक्षा-योजना के लिए ऋण लेने का भी अधिकार होना चाहिए। लेकिन इसके लिए सरकार की स्वीकृति आवश्यक है।

स्थानीय आय-व्यय

जहाँ तक सरकार और स्थानीय बोर्डों के सम्बन्ध का प्रश्न है दोनों के बीच समझौता या सामञ्जस्य करने की आवश्यकता है। अन्ततो गत्वा बोर्डों की आर्थिक स्थिति की दृढ़ता के लिए सरकार को ही आवश्यक रूप से ज़िम्मेदार

होना होगा। सरकार को उचित है कि उनके रोज़मर्रा के कामों के लिए धन की सहायता देती रहे। इसके लिए सरकार को कुछ अधिकार भी होगा। बोर्डों के हिसाब-किताब की जाँचने के लिए सरकार अपनी ओर से हिसाब-निरीक्षक नियुक्त कर सकती है। उनके बजट की आलोचना और टीका-टिप्पणी कर सकती है। किसी असाधारण व्यय या ऋण की स्वीकृति देने या न देने का अधिकार भी सरकार को होना चाहिए। दूसरे, सरकार का कर्त्तव्य है कि गाँवों, ग्रामसंघों, ज़िलों तथा नगरों के विभिन्न कार्यों में इस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित करे कि शिक्षा, स्वास्थ्य, सफ़ाई, यातायात तथा आर्थिक उन्नति की राष्ट्रीय योजनाओं को कार्यान्वित करने में वे भाग ले सकें। व्यवस्थापिका को चाहिए कि क़ानून बनाकर स्थानीय बोर्डों के कार्यक्षेत्र की सीमा निर्दिष्ट करे और उनके लिए स्थूल नीति निर्धारित कर दे।

स्थानीय बोर्ड तथा सरकार

इसके विपरीत, स्थानीय बोर्डों को स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने के अधिकारों से वञ्चित करना अथवा उनके दायित्व की भावना को नष्ट करना विपत्तिजनक होगा। क़ानून-द्वारा निर्धारित नीति और कार्यक्षेत्र के अन्दर उक्त बोर्डों को अपने सर्वोत्तम विचारों के अनुसार, स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। सरकार को चाहिए कि

बोर्डों को सभी आवश्यक बातों से परिचित रक्खे और उन्हें सलाह दे। सार्वजनिक प्रश्नों के वादविवाद और अनुभवों के तारतम्य के लिए स्थानीय प्रतिनिधियों की समय समय पर बैठक करनी चाहिए। महत्त्वपूर्ण मामलों में, सरकार मुलायमियत और होशियारी के साथ रहनुमाई कर सकती है। किन्तु जहाँ तक सम्भव हो सरकार को बोर्डों के साधारण और रोज़मर्रा के शासन-सम्बन्धी कार्यों में हस्तक्षेप न करना चाहिए। अगर बोर्डों का शासन बिलकुल असन्तोषप्रद हो तो सरकार उन पर अपना पूरा प्रभाव डाल सकती है। किन्तु अगर इतने पर भी अवस्था बिगड़ती ही जाय और बोर्डों का शासन-प्रबन्ध बिलकुल चौपट होता दिखाई पड़े तो सरकार बोर्डों को भंग कर सारा अधिकार अपने हाथ में ले सकती है। किन्तु सामान्य सिद्धान्त यह है कि स्थानीय बोर्ड साधारणतः अपने मामलों का प्रबन्ध स्वतन्त्रापूर्वक, क़ानून-द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर, करें।

स्थानीय स्वायत्त शासन की सफलता, सबसे अधिक जनता के सहयोग, सार्वजनिक सेवा की भावना तथा चरित्र पर निर्भर करती है। गाँव, ज़िला या नगर के प्रति किसी व्यक्ति का प्रेम जितना ही गम्भीर होगा स्थानीय बोर्डों की निरपेक्ष सेवा उतनी ही अधिक हो सकेगी। स्वराज्य की अभिलाषा जितनी ही प्रबल होगी बुरे स्वार्थों के हस्तक्षेप से लोग

स्थानीय बोर्ड तथा जनता

उतने ही अधिक सजग रहेंगे। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक कम से कम सार्वजनिक प्रश्नों के आधार-भूत स्थूल सिद्धान्तों को समझने की कोशिश करे। जो उम्मीदवार उसके पास वोट माँगने आवें उनकी योग्यता के सम्बन्ध में ठीक राय क़ायम करने की कोशिश उसे जरूर करनी चाहिए। उसका यह मत केवल सार्वजनिक हित के उद्देश्य से ही प्रेरित होना चाहिए। उसे श्रेणी या जाति, धर्म अथवा सम्प्रदाय के विचारों से प्रभावित न होना चाहिए, व्यक्तिगत लाभ या स्वार्थ की तो कोई बात ही नहीं है। दूसरे शब्दों में उसे सार्वजनिक हित को अग्रसर करने के लिए अपने निरपेक्ष विचार के द्वारा योग देना चाहिए। जो लोग स्थानीय बोर्डों के सदस्य निर्वाचित किये जायँ उन्हें सब प्रकार के व्यक्तिगत स्वार्थ के प्रलोभनों, साम्प्रदायिक हितों तथा सस्ते में नाम करने की अभिलाषा से अपने को सदा अछूता रखना चाहिए। स्थानीय बोर्डों से जिन कार्यों के सम्पादन की आशा की जाती है उनमें सम्पूर्ण नागरिक समुदाय को सहयोग करना चाहिए। यह बात स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति गाँव या नगर को स्वस्थ और साफ़ रखने में सहायक हो सकता है। बहुत से शिक्षित व्यक्ति पुस्तकालयों तथा वाचनालयों के संचालन में सहायता दे सकते हैं। वे बालिग़ शिक्षा तथा आगे की शिक्षा में भी योग दे सकते हैं। जिनके पास आवश्यक अवकाश तथा योग्यता है वे स्थानीय प्रश्नों का अध्ययन कर उनके सम्बन्ध में

जानकारी पूर्ण प्राप्त कर सकते हैं। उस ज्ञान को वे और लोगों को भी दे सकते है। इस प्रकार एक सच्चा लोकमत संगठित किया जा सकता है। यदि दलों का जन्म होता हो तो नागरिक समुदाय को इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि वे व्यक्तिगत कलह तथा शत्रुता के आधार पर संगठित न होने पावें। सम्पूर्ण समाज की भलाई सोचने में जो सच्चे मतभेद उत्पन्न हों केवल उन्हीं के आधार पर दलों का विकास होना चाहिए।

एक ख़तरा ऐसा है जिससे बचने के लिए सभी स्थानीय संस्थाओं को सजग रहना चाहिए। यह ख़तरा प्रादेशिकता का है। स्थानीय बोर्ड अपने सभी काम आवश्यक रूप से छोटे पैमाने पर करते हैं। किन्तु उन्हें राष्ट्रीय तथा मानव हितों को नहीं भूल जाना चाहिए। सार्वजनिक हित को संगठित करने में एक विस्तृत दृष्टिकोण सदा सहायक होता है। प्रत्येक स्थान के नागरिक समुदाय को चाहिए कि वे अपने को एक विस्तृत समाज का अंग समझें। अपने हित को भी उन्हें उसी समाज के साथ सम्बद्ध समझना चाहिए। यदि स्थानीय कार्य विस्तृत दृष्टिकोण से किये जायँगे तो वे न केवल अधिक लोगों का हित कर सकेंगे बल्कि अपनी ओर और अच्छे आदमियों को भी आकर्षित करेंगे।

विस्तृत दृष्टिकोण

नगरों तथा ज़िलों के अनेक स्थानीय बोर्डों में जो बुराई दिखाई पड़ती है उसकी अचूक औषध सजग और शिक्षित

लोकमत है। बुराई साधारणतः अन्धकार में ही फैलती है, प्रकाश से उसको डर है। यह ख्याल रखना लोकमत का काम है कि चुनाव में खड़ा होने वाला कोई उम्मीदवार वोट प्राप्त करने के लिए किसी रूप में घूस तो नहीं देता अथवा कोई वोटर घूस तो नहीं लेता। इस प्रकार की सभी घूसखोरी का भण्डाफोड़ बड़ी निर्भयता के साथ करना चाहिए। घूस देने या लेने वाले को दण्ड दिलाना भी उसका काम है। स्थानीय बोर्डों के जो सदस्य या कर्मचारी ठेकों और लाइसेन्सों से व्यक्तिगत लाभ कमायें, लोकमत को आवश्यक रूप से उनकी निन्दा करनी चाहिए और उनको लांछित या दण्डित भी करना चाहिए। बोर्डों को व्यक्तिगत झगड़ों और लड़ाइयों का क्षेत्र बनाना भी ठीक नहीं है। अगर कुछ खराब आदमी मिलकर स्थानीय चुनाव और शासन को अपने प्रभाव में लाने की चेष्टा करें तो भले आदमियों का यह नागरिक कर्त्तव्य है कि वे आपस में सङ्गठित हों और बुराइयों को दूर करें।

स्थानीय शासन में पवित्रता

अभी तक जिस स्वराज्य की विवेचना की गई है उसका आधार भौमिक है। किन्तु एक दूसरे प्रकार का भी स्वराज्य है जिसका अस्तित्व सदियों से रहा है और जो अभी हाल में बड़ी ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। यह व्यावसायिक स्वराज्य है। एक ही पेशा या व्यवसाय में लगे हुए लोगों के समुदायों ने अपने मामलों का प्रबन्ध बहुधा अपने

आप कर लिया है। किसान-सभाओं ने, सौदागरों तथा कारीगरों के सङ्घों ने तथा वकीलों, डाक्टरों और अन्य लोगों के समुदायों ने अकसर अपने सदस्यों के लिए मान निर्धारित किया है, अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य निश्चित किया है और काम तथा उम्मीदवारी की शर्तों को निर्धारित किया है। आधुनिक परिस्थितियों में व्यावसायिक समुदाय बिलकुल स्वतन्त्र नहीं छोड़े जा सकते। जैसा कि पहले ही निर्देश किया जा चुका है, खान के स्वामियों, खान में काम करने वाले मज़दूरों तथा मालिकों और मज़दूरों के सङ्घों के कार्यों के साथ समाज का जो हित लगा हुआ है वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उस हित की निगरानी सम्पूर्ण समाज को और वास्तव में राज्य को करनी चाहिए। फलतः व्यावसायिक समुदायों को आवश्यक रूप से राष्ट्रीय योजनाओं और राष्ट्रीय क़ानून-निर्माण के अनुकूल काम करना चाहिए, उनके ख़िलाफ़ कभी न जाना चाहिए। किन्तु इन शर्तों के अन्दर उन्हें अपने आन्तरिक प्रबन्ध की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। कृषि-सम्बन्धी कार्यों को सहकारी ढङ्ग से सञ्चालित करने में किसानों की भी राय लेनी चाहिए। कारख़ानों के प्रबन्ध से सम्बन्ध रखने वाली कमेटियों में श्रमिकों के प्रतिनिधियों को भी शामिल करना चाहिए। इसी प्रकार कारख़ानों के अन्दर अनुशासन की रक्षा में भी उनका कुछ हाथ होना चाहिए। यह व्यावसायिक

व्यावसायिक स्वराज्य

स्वराज्य कारख़ाने के कारबार की उत्तमता को घटाने के बजाय और अधिक बढ़ा देगा। उसके ज़रिये कारबार में शिथिलता आने की बात तो दूर रहो, उलटे उसको और बल प्राप्त हो जायगा। कारख़ाने से सम्बन्धित सभी लोगों से परिश्रम कराने तथा उनके काम को रुचिकर बनाने में वह सहायक होगा। वह अनेक प्रकार के अन्यायों को भी रोकेगा और शिकायतों को शीघ्र दूर करने में मदद करेगा। वह असन्तोष को फैलने से रोकेगा और आर्थिक शान्ति की स्थापना में सहायक होगा।

दसवाँ अध्याय

लोकमत

राज्य भी एक राजनीतिक समुदाय है किन्तु वह बहुत बड़ा और व्यापक है। उसके अन्तर्गत केन्द्रीय शासन तथा स्थानीय संस्थायें सभी सम्मिलित है। शासन की अनेक शाखायें ऐसी हैं जिनकी अभी पिछले पृष्ठों में कुछ भी चर्चा नहीं की गई है। उदाहरणार्थ, एकात्मक राज्य अथवा संघ-सम्मिलित राज्य का केन्द्रीय शासन अनेक प्रान्तों में विभक्त होता है। प्रान्तीय सरकार क़ानून-द्वारा निर्दिष्ट सीमाओं के अन्दर कार्यकारिणी, न्याय तथा क़ानून-निर्माण-सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग करती है। प्रान्त कहीं कहीं कमिश्नरियों में विभक्त रहते है और प्रत्येक कमिश्नरी के अन्दर कुछ ज़िले होते हैं। कहीं कहीं प्रान्त सीधे ज़िलों में ही विभक्त रहते हैं, कमिश्नरियाँ नहीं होतीं। मदरास प्रान्त इसका एक उदाहरण है। ज़िलों और कमिश्नरियों के हाकिम निर्दिष्ट अधिकारों का प्रयोग करते हैं। ज़िला अकसर और छोटे छोटे भागों में—तहसीलों अथवा तालुकों में—विभक्त होता है। इसके अतिरिक्त स्थानीय स्वायत्त शासन के कुछ और भी

सरकार की शाखायें

क्षेत्रफल होते हैं। उदाहरणार्थ, भारत के कुछ भागों में 'टाउन एरिया' और 'नोटीफाइड एरिया' हैं। ये गांव से बड़े और नगर से छोटे होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व इँगलैंड के अन्दर बहुसंख्यक स्थानीय बोर्ड थे जिनके सदस्य जनता-द्वारा निर्वाचित होते थे। उन बोर्डों के अलग अलग कार्य, अलग अलग सदस्य और अलग अलग आमदनी के ज़रिये थे।

सरकार की एक शाखा और है जिसका विकास अभी हाल में होना प्रारम्भ हुआ है। राज्यों के बीच होने वाली सन्धियों,

समझौतों, सभाओं तथा परामर्शों के द्वारा

अन्तर्राष्ट्रीय सरकार वह अपने प्रभाव को प्रकट करने की चेष्टा

कर रही है। उसने तीन बड़ी बड़ी संस्थाओं

को जन्म दिया है—राष्ट्रसङ्घ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सङ्गठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत। इनमें प्रथम दो संस्थाओं का सदर मुक़ाम जेनेवा है। तीसरी संस्था—अदालत—हेग में स्थित है। अन्तर्राष्ट्रीय सरकार अभी बहुत कमज़ोर और बहुत अपूर्ण है। बड़े राष्ट्रों में संयुक्तराज्य अमेरिका तो प्रारम्भ ही से राष्ट्रसङ्घ से अलग है। जापान और जर्मनी उसमें सम्मिलित हुए थे किन्तु कुछ दिन हुए उन्होंने अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है। कुछ दूसरे देशों ने उसे अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते और कूटनीति का प्रधान क्षेत्र नहीं स्वीकार किया है। निर्बल राष्ट्र शक्तिशाली पड़ोसी राष्ट्रों के आक्रमण से अपनी

रक्षा करने के लिए राष्ट्रसङ्घ पर निर्भर करते हैं और उसकी सहायता की आशा लगाये रहते हैं। किन्तु अकसर उनकी यह आशा विफल सिद्ध होती है। राष्ट्रसङ्घ जापान से चीन की रक्षा नहीं कर सका। जापान ने १९३१ ई० में ज़बरदस्ती मंचूरिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसी प्रकार वह इटली से एबीसीनिया की रक्षा नहीं कर सका। उसके देखते देखते इटली ने बलपूर्वक एबीसीनिया पर अधिकार जमा लिया है। राष्ट्रसङ्घ का सदस्य होकर भी एबीसीनिया अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उसकी सहायता नहीं प्राप्त कर सका। इस प्रकार यद्यपि बहुत सी बातें हतोत्साह करने वाली हैं तो भी इसमें सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का भविष्य उज्ज्वल है। चूँकि आधुनिक काल में व्यापार, उद्योग-धन्धे तथा सांस्कृतिक सम्पर्क सब बहुत बड़े पैमाने पर होते हैं अतः अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का होना अनिवार्य है। राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों की वृद्धि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय परामर्श और समझौते आवश्यक होते जा रहे हैं।

शासन के विभाग

सम्पूर्ण राजनीतिक सरकार साधारणतः तीन शाखाओं में विभक्त की जाती है—कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका तथा न्यायालय। उनके कार्य उनके नामों से ही प्रकट हो जाते हैं और पिछले अध्यायों में कई स्थलों पर उनका उल्लेख किया जा चुका है। ध्यान देने पर यह ज्ञात होगा कि सरकार के कार्य-विस्तार

से उक्त तीनों शाखाओं पर अभूतपूर्व ज़िम्मेदारियाँ लद जाती हैं। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान समय की परिस्थितियों में नागरिक जीवन के लिए सरकार के कार्य-क्षेत्र का विस्तार अपेक्षित है। ऐसी अवस्था में सामाजिक हित को अग्रसर करने के लिए विशेष कर कार्यकारिणी को अनेक विभागों की स्थापना करनी होती है। अनिवार्य रूप से एक ऐसी नौकरशाही का जन्म होता है जिसके अन्तर्गत राष्ट्रीय, प्रान्तीय और ज़िले के शासन के सदर मुक़ामों पर अनेक प्रकार के स्थायी कर्मचारी शामिल होते हैं।

भौमिक शासन का यह श्रेणी-क्रम यद्यपि बहुत विशाल दिखाई पड़ता है किन्तु वास्तव में शासन की सभी श्रेणियाँ उसके अन्तर्गत नहीं आ जातीं। भौमिक शासन के अतिरिक्त एक व्यावसायिक शासन भी होता है जिसका सञ्चालन गिरजों, व्यावसायिक समुदायों तथा अन्य संस्थाओं के द्वारा होता है।

व्यावसायिक शासन

जीवन की आधुनिक परिस्थितियों में सामाजिक नियन्त्रण बहुत अधिक मात्रा में होता है। उस नियन्त्रण का उपयोग अनेक एजेन्सियों (छोटे-बड़े अफ़सर तथा समितियां) के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन पर उसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इस नियन्त्रण के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख कर देना उचित है। पहली बात

नियन्त्रण के साधन

तो यह है कि नियन्त्रण की सभी एजेन्सियों का उद्देश्य रचनात्मक कार्य होना चाहिए। जनता के हित को अग्रसर करना ही वास्तविक रचनात्मक कार्य है। दूसरी बात यह है कि उनको आवश्यक रूप से अपना काम बड़ी ईमानदारी और उत्तमता के साथ करना चाहिए। तीसरे, उनमें आपस में मेल और सामञ्जस्य होना चाहिए। उनके अन्दर एक कामचलाऊ समझौता होना चाहिए। चौथे, सामाजिक नियन्त्रण का प्रयोग ऐसा करना चाहिए कि जनता की स्वतन्त्रता में किसी तरह की बाधा न हो। राज्य को चाहिए कि इन सब चीजों को कम से कम अंशतः सुरक्षित कर दे क्योंकि वही सब समुदायों में प्रधान है। किन्तु राज्य अकेले इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार के और इतने बड़े काम के लिए जो ज्ञान, विचार और प्रतिष्ठा अपेक्षित है वह राजनीतिक शासन ही अकेला सब समय में प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त एक बात और उल्लेखनीय है। राज्य यद्यपि नियन्त्रण की सभी एजेन्सियों में सबसे अधिक शक्तिशाली है किन्तु उस पर उसी प्रकार की देख-रेख करने की जरूरत है जिस प्रकार उसे दूसरों पर देख-रेख रखनी चाहिए।

राज्य का निरीक्षण कोई समुदाय नहीं कर सकता। केवल लोकमत ही उस पर देख-रेख रख सकता है। सामूहिक जीवन के मूल-तत्वों से ही लोकमत की शक्ति उत्पन्न होती है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो पूर्ण रूप से लोकमत की उपेक्षा कर सके। वह किसी

निरीक्षण

दल-विशेष या बहुमत की उपेक्षा कर सकता है किन्तु उसकी अपनी एक परिचित मण्डली होती है जिसके मत की अवहेलना वह नहीं कर सकता। साधारणतः लोग उन लोगों की स्वीकृति प्राप्त करने की कोशिश करते हैं जिनके सम्पर्क में वे आते हैं या जिनका वे सम्मान करते हैं अथवा जो उनकी निजी दुनिया के लोग हैं। जिनके हाथों में सामाजिक नियन्त्रण का काम सिपुर्द है वे उन सब लोगों के विचारों और आदर्शों की उपेक्षा नहीं कर सकते जिनके साथ उन्हें मिलना जुलना होता है। अगर किसी विचारधारा को सभी लोग अथवा अधिकांश लोग मानते हों तो उसका प्रभाव नियन्त्रण की एजेन्सियों पर पड़े बिना नहीं रहेगा। इस प्रकार सिद्ध होता है कि अन्ततो गत्वा लोकमत ही सभी नागरिक एजेन्सियों का निरीक्षण करता है।

लोकमत का महत्त्व

पीछे नागरिक जीवन के विविध अंगों की जो विवेचना की गई है उसके अन्तर्गत लोकमत का उल्लेख कई बार किया जा चुका है और कहा गया है कि वह सार्वजनिक आचरण के मान को स्थिर करता और नीति के निर्धारण में सहायक होता है। सभी सामाजिक मामलों में, विशेषकर लोकसत्तात्मक शासन-प्रणालियों के अन्तर्गत लोकमत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। लोकसत्तात्मक शासन को अकसर लोकमत द्वारा संचालित शासन कहा गया है। केन्द्रीय तथा स्थानीय संस्थाओं के संचालन में लोकमत का प्रभाव पद-पद पर पड़ता है।

अतः यह जानना आवश्यक है कि लोकमत की उत्पत्ति कैसे होती है और उसके निर्माण में नागरिक को क्या योग देना चाहिए।

जनता

जैसा कि उस शब्द से ही प्रकट होता है, लोकमत का सम्बन्ध जनता से है। अगर वास्तविक रूप से देखा जाय तो उस मत को हम लोकमत नहीं कह सकते जिसे सम्पूर्ण नागरिक समुदाय न मानता हो। उदाहरणार्थ किसी वर्ग, सम्प्रदाय या समुदाय विशेष के मत को हम लोकमत की संज्ञा नहीं दे सकते। लोकमत वास्तव में सम्पूर्ण नागरिक समुदाय का मत है। किन्तु यहाँ पर एक कठिनाई खड़ी हो जाती है। ऐसा शायद ही कभी सम्भव हो कि सम्पूर्ण नागरिक समुदाय किसी विषय पर एकमत हो जाय। अगर हम 'लोकमत' शब्द का प्रयोग बिलकुल शाब्दिक अर्थ में करें तो वह दुर्लभ सिद्ध होगा। उस अर्थ में लोकमत शायद ही कभी हो सके। किन्तु परीक्षा की एक दूसरी कसौटी भी है।

लोकमत की कसौटी

सम्पूर्ण जनता के हित का ख़्याल रखना ही वह कसौटी है। उसी मत को वास्तविक लोकमत कहा जा सकता है जो सम्पूर्ण समाज के हित की भावना से प्रेरित हो। जो मत किसी एक धार्मिक दल, वर्ग या समुदाय के विशेष हितों अथवा विशेष अधिकारों के इर्द-गिर्द केन्द्रित होता है उसे हम साम्प्रदायिक मत कह सकते हैं। उसे लोकमत नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लोकमत और बहुमत दोनों आवश्यक रूप से एक ही नहीं हैं। अगर अधिकाश लोग अपने हितों की भाँति ही अल्पसंख्यकों के कल्याण एवं हितों का ख्याल न करके—अर्थात् सम्पूर्ण समाज के हित का विचार किये बिना—कोई मत बना लें तो वह बहुमत होगा लोकमत नहीं। इसी प्रकार यदि अल्पसंख्यक लोग बहुसंख्यक लोगों के हितों को अवहेलना कर—अर्थात् सम्पूर्ण समाज के हितों पर ध्यान दिये बिना ही—कोई मत बना लें तो वह एक दल का मत कहा जायगा लोकमत नहीं।

आदर्श स्थिति तब उत्पन्न होगी जब सम्पूर्ण समाज सब के हित के आधार पर एक मत स्थिर करे। ऐसा मत निरपेक्ष होगा क्योंकि वह व्यक्तिगत अथवा साम्प्रदायिक हित के उद्देश्य से प्रेरित नहीं होगा। वह अठारहवीं सदी के प्रसिद्ध फ्रान्सीसी दार्शनिक रूसो के आम मत को प्रकट करेगा। वह सार्वजनिक अथवा सम्पूर्ण जनता का मत होगा, इस अर्थ में कि वह सब लोगों का होगा और इस अर्थ में भी कि उसका सम्बन्ध सब के हित से होगा।

आदर्श स्थिति

आदर्श स्थिति शायद ही कभी उत्पन्न हो। अतः यह विचार करना आवश्यक है कि व्यवहार में मत उस आदर्श स्थिति के कितने निकट पहुँच सकता है। सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के मतों का प्रादुर्भाव होता है। अनेक दल अथवा व्यक्ति विभिन्न

प्रकार के मत रखते हैं और वे विभिन्न हितों के द्वारा प्रेरित होते हैं। कुछ मत तो सम्पूर्ण समाज के हितों से अनुप्राणित होते हैं और कुछ किसी वर्ग, सम्प्रदाय, संयोग से उत्पन्न दल अथवा केवल किसी कुटुम्ब के हितों से प्रेरित होते हैं। इन मतों का आपस में एक दूसरे के साथ संघर्ष होता है। वे एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं और एक दूसरे से समन्वय करते हैं। एक बात और भी है। समाज का कोई भी वर्ग सदा एक ही मत नहीं रखता। मत समय के साथ—नई आवश्यकताओं, नई श्रेणियों, नये विचारों की उत्पत्ति के साथ तथा वास्तव में सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों के प्रत्येक नये सामञ्जस्य के साथ—बदलते रहते हैं। बहुत दिनों से दबे हुए भाव या आन्दोलन कभी कभी एकदम से ऊपर आ जाते हैं और बड़े वेग के साथ आगे बढ़ते हैं। उस समय मत क्रोध तथा उत्तेजना के अनुकूल हो जाते हैं। कुछ लोग तो नये विचारों और परिवर्तनों को ग्रहण करने के लिए उत्सुक दिखाई पड़ते हैं और शेष लोग उनका घोर विरोध करते हैं।

मत का व्यावहारिक झुकाव

मत के इन झुकावों के लिए दो ख़तरे हैं। एक ख़तरा तो यह है कि सम्पूर्ण समाज का ख़्याल न करके केवल कतिपय समूहों के स्वार्थ के आधार पर ही मत बन सकता है। दूसरा ख़तरा यह है कि मत कहीं वास्तविक बातों के ग़लत या अधूरे ज्ञान, नाजायज़ अनुमान या

परिणाम अथवा दोषपूर्ण निर्णय के आधार पर न बन जाय। जब कभी मत इन खतरों का शिकार हो जाता है तो ग़लतफ़हमियाँ पैदा हो जाती हैं और ये ग़लतफ़हमियाँ सार्वजनिक जीवन को अशान्त बना देती हैं और कभी कभी विद्रोह या विप्लव पैदा कर देती हैं।

मत के लिए ख़तरा

साधारण व्यक्ति नगरों अथवा गाँवों में जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करता है उसको देखते हुए ये ख़तरे बहुत विपत्ति-जनक हैं। वह अधिकांशतः अपने ही व्यवसाय, कुटुम्ब, मित्रों तथा सम्बन्धियों के छोटे से दायरे के हित की बात सोचा करता है। हो सकता है कि उसको मनबहलाव के कुछ थोड़े से अवसर प्राप्त हों और वह अपने साथियों के मत, उत्साह और पक्षपात को ग्रहण कर ले। अपने दैनिक जीवन के इस छोटे से दायरे के बाहर स्थित विस्तृत संसार के सम्बन्ध में उसकी धारणा शायद ही ठीक हो यद्यपि वह उस बाह्य संसार का एक अंग है और उसके भाग्य-निर्माण पर उसका प्रभाव भी पड़ता है। वह अधिक भ्रमण नहीं करता, अगर करता भी है तो उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि नये-नये देशों के लोगों के जीवन का अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए। वह अकसर ऐसे लोगों से नहीं मिलता जो विचार, अनुभव तथा विद्या-बुद्धि में उससे भिन्न

साधारण आदमी का जीवन

होते हैं। वह बहुत कम पढ़ता है और फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह जिन अख़बारों या प्रचार करने वाली छोटी छोटी पुस्तिकाओं को पढ़ता है उनमें सब बातें बिलकुल सच ही लिखी रहती हैं। जहाँ तक उसकी सहानुभूतियों का सम्बन्ध है, वह अपने कुटुम्ब तथा दल के रीति-रस्मों का अनुसरण करता है। अगर ये रीति-रस्म संकुचित हुए तो साधारण मनुष्य की सहानुभूतियाँ भी प्रायः संकुचित रह जाती हैं। अपनी श्रेणी, सम्प्रदाय तथा निकट के साथियों तक ही उसकी सहानुभूतियाँ सीमित रहती हैं। अपने दृष्टिकोण को विस्तृत बनाने अथवा सार्वजनिक कार्यों और समस्याओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए न तो उसके पास अवकाश है और न उसे सुयोग ही प्राप्त होता है। उसकी सहानुभूतियों के विस्तार के लिए अनुकूल वातावरण नहीं मिलता।

उदासीनता और पक्षपात

इसका परिणाम यह होता है कि साधारण समय में बहुत-से लोग सार्वजनिक मामलों की ओर से उदासीन रहते हैं। जब वे कभी कभी उन मामलों में भाग लेते हैं तो उनके लिए एक ख़तरा रहता है। वे उन लोगों के फन्दों में आ सकते हैं जो उनके भय, अज्ञान और पक्षपात से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। वे सीधे-सादे साधारण लोग यह नहीं समझते कि वोट डालने का अधिकार हमारा एक पवित्र अधिकार है और हमें उसका उपयोग सार्वजनिक हित के लिए

करना चाहिए। ख़ुशामद, झूठे वादों अथवा तुच्छ आर्थिक प्रलोभनों में पड़कर वे अपने वोट को फेंक देते हैं। कभी कभी वे अपने मित्रों, सम्बन्धियों, पुरोहितों तथा उन लोगों के प्रभाव में आ जाते हैं जो उनको लाभ या हानि पहुँचाने की शक्ति रखते हैं। जो लोग राजनीति में सक्रिय भाग लेते हैं और क़रीब क़रीब बराबर दिलचस्पी रखते हैं उनमें कुछ ऐसे होते हैं जो विशेष दलों या समूहों के पक्ष का समर्थन करते हैं और उनके संकुचित पक्षपातों तथा संकीर्ण आकांक्षाओं से लाभ उठाकर उनके नेता बन जाते हैं। अतः सामाजिक मतभेद और बढ़ते हैं और नई नई शत्रुता पैदा होती है। कुछ लोग ऐसे हैं जो अपना ही स्वार्थ-साधन करते हैं और अपनी सुविधा के अनुसार किसी आधार पर एक दल बना लेते हैं।

ज्ञान और शक्ति

कुछ लोग सार्वजनिक हित के उच्च उद्देश्यों से भी प्रेरित होते हैं। किन्तु आधुनिक संसार के जटिल व्यापारों का न तो उन्हें आवश्यक ज्ञान रहता है और न उनके तह में पैठने की अन्तर्दृष्टि होती है। वे ऐसे कार्यक्रमों का निर्माण अथवा समर्थन करते हैं जिनका उद्देश्य तो अच्छा होता है किन्तु जिनसे जनता की आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति अधिक नहीं होती। उस मत के प्रभाव से जो उनके पक्ष में हो जाता है, कुछ थोड़ी सी उन्नति हो सकती है किन्तु जितनी शक्ति और उत्साह के साथ काम किया जाता है उसके अनुपात से सम्भव है कि वह

उन्नति कुछ भी न हो। इसके विपरीत, कुछ लोग ऐसे हैं जो बुद्धि, अध्ययन, निरीक्षण तथा अनुभव के बल से स्थिति को ठीक ठीक समझ सकते हैं किन्तु उनमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वे दूसरों को अपने मत का अनुयायी बना लें। उनमें इतनी योग्यता भी नहीं है कि वे एक उदार और स्पष्ट कार्यक्रम के आधार पर कोई दल संगठित कर लें। आजकल ऐसे लोग बहुत थोड़े मिलेंगे जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की तथा अपने दल या सम्प्रदाय के हितों की परवाह न कर सच्चे सार्वजनिक हित पर ही अपना सारा ध्यान दें और जो शिक्षित तथा निरपेक्ष मत पैदा करने के लिए सक्रिय उद्योग करें। ऐसे लोगों की कुछ वक़्त होती है और कभी कभी वे मत को सार्वजनिक रूप देने में सफल होते हैं। किन्तु अकसर उन लोगों के द्वारा जो बड़े परिश्रम के साथ साम्प्रदायिक मत का प्रचार करते हैं उनका प्रभाव विफल हो जाता है।

यह स्पष्ट है कि सच्चे लोकमत के अबाध विकास के लिए इन अवस्थाओं का बदलना आवश्यक है। सच्चा नागरिक मत वास्तविक नागरिक संगठन का काम है। व्यवहार में इन दोनों को आवश्यक रूप से साथ साथ चलना है। संस्थाओं का जितना ही सुधार होगा लोकमत के अभ्युदय को उतना ही अधिक सुयोग मिलेगा। मत को शिक्षित बनाने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उससे सच्चा

लोकमत तथा समाज का पुनःसंगठन

नागरिक संगठन करने का सुयोग बढ़ जाता है। जो कुछ भी हो, यह आवश्यक है कि साधारण आदमी को पुरानी लकीर का फ़क़ीर होने से रोका जाय; आजकल वह जिस अन्धकार में पड़ा हुआ है उससे उसे बाहर निकाला जाय। उसके पास समुचित ज्ञान और अवकाश होना चाहिए। उसे पढ़ने-लिखने, यात्रा करने तथा विस्तृत जीवन में भाग लेने की सुविधायें मिलनी चाहिएँ। ज्यों ज्यों वह इस कूपमण्डूकता के जीवन के बाहर निकलता जायगा त्यों त्यों वह लोकमत पर उत्तरोत्तर अच्छा प्रभाव डालेगा।

अख़बार

विभिन्न दलों के कार्यक्रमों तथा समाचार-पत्रों में सार्वजनिक और साम्प्रदायिक विचारधाराओं, शिक्षित तथा भ्रमपूर्ण मतों, व्यक्ति तथा समूह की आकांक्षाओं की पारस्परिक क्रिया स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। ये मत के निर्माण तथा प्रकाशन के बड़े प्रबल साधन हैं। कुछ अख़बार ऐसे हैं जो सार्वजनिक महत्त्व की सभी घटनाओं की ख़बर सचाई के साथ देते हैं और ज्ञानपूर्ण तथा विचारयुक्त लेखों द्वारा यह विश्लेषण करने की चेष्टा करते हैं कि उन घटनाओं का सार्वजनिक हित पर क्या प्रभाव पड़ेगा। वे अपने सम्पादकीय लेखों और टीका-टिप्पणियों के द्वारा सत्य, न्याय तथा उन्नति के पक्ष का समर्थन करते हैं। किन्तु अनेक अख़बार इस आदर्श से गिरे होते हैं। वे इस आदर्श तक नहीं पहुँच पाते। असल

बात यह है कि अख़बार निकालना मुख्यत: नहीं तो अंशत: एक व्यवसाय है। उसे अपना खर्च चलाना होता है और अगर सम्भव हुआ तो कुछ लाभ भी पैदा करना होता है। उसकी दृष्टि अपने प्रचार और आमदनी के दूसरे ज़रियों पर रहती है। वह उस वर्ग के विशेष हितों का समर्थन करने तथा उसके विशेष विचारों को व्यक्त करने के प्रलोभन में आ जाता है जो उसमें ख़ूब विज्ञापन छपने को देता है। अख़बार को खुल्लमखुल्ला अथवा गुप्तरूप से, मालदार ज़मींदारों, सौदागरों, व्यावसायिकों तथा पूँजीपतियों से आर्थिक सहायता मिल सकती है। वह अपने को किसी एक वर्ग या समुदाय का मुखपत्र बना सकता है और इस प्रकार उसमें निश्चयात्मक रूप से अपना प्रचार बढ़ा सकता है। बहुत से लोग अपने अख़बारों में वही बातें पढ़ना चाहते हैं जो वे स्वयं सोच रहे हों या जो कम से कम उनके पूर्व संस्कारों के साथ संगति खाते हों। फलत: विभिन्न पत्र विभिन्न समुदायों की रुचियों की पूर्ति करते हैं। वे विभिन्न समूहों के बीच विद्वेषाग्नि को और प्रज्वलित करते हैं। ध्यान देने पर मालूम होगा कि पत्रों का स्वर उनके पाठकों अथवा मालदार श्रेणियों की रुचि के अनुकूल होता है। एक दूसरा भी प्रभाव है जिसका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। सरकारें भी अख़बारों पर प्रभाव डालती आई हैं। कभी कभी वे अख़बारों में समाचार तथा टीका-टिप्पणी के प्रकाशन पर

नियंत्रण रखने के लिए सख़्त क़ानून पास करती हैं। दूसरे, कुछ अख़बारों को वे आर्थिक सहायता देकर उन पर अपना प्रभाव बनाये रखती हैं, अथवा उन्हें विज्ञापन देकर अपनी कृपा प्रकट करती हैं। तीसरे, वे गुप्तरूप से अख़बारों के सम्पादकों अथवा स्वामियों के विचारों तथा नीति को प्रभावित करती हैं—विशेषकर विदेशी मामलों और उच्च श्रेणी की राजनीति के सम्बन्ध में।

इन विभिन्न बातों का सम्मिलित प्रभाव समाचारों तथा विचारों के प्रकाशन में दिखाई पड़ता है। बहुत से पत्र समाचारों का निर्वाचन, प्रदर्शन तथा सम्पादन, कुछ ख़ास पूँजीपतियों, समाज की कुछ ख़ास श्रेणियों अथवा सरकार या सर्वसाधारण जनता को प्रसन्न करने या कम से कम उनकी अप्रसन्नता का निवारण करने के लिए करते हैं। इस प्रकार सत्य का अंश कभी कभी दबा दिया जाता है। कभी कभी झूठी सलाहें दी जाती हैं। किसी व्यक्ति की प्रशंसा अथवा निन्दा में या किसी विषय के पक्ष अथवा विपक्ष में अत्युक्ति की जाती है। यही आजकल का नियम हो गया है। सम्पादकीय टिप्पणियाँ इन बातों से और भी अधिक प्रभावित होती हैं। प्रत्येक दिन विभिन्न हितों का समर्थन करने वाले पत्र एक ही तथ्यों से बिलकुल विरोधी परिणाम निकालते हैं। वास्तविक तथ्य पाठकों के सामने नहीं आने पाते। सच्ची घटनायें ख़ुद

समाचारपत्रों का स्वर

नहीं बोलने पाते। उनसे पक्षपात-पूर्ण विचारों का समर्थन कराया जाता है। इन सब बातों के अलावा सार्वजनिक मामलों का वादविवाद शिष्टतापूर्वक संयत भाषा में नहीं किया जाता। उसमें इस क़दर व्यक्तिगत आक्रमण और गाली गलौज किया जाता है कि साधारण पाठक भी उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसके अतिरिक्त कभी कभी उन लोगों के लिए जो कि ऊपरी तड़कभड़क अथवा जीवन के आमोद-प्रमोदों में निमग्न रहते हैं, खेल, तमाशे तथा फ़ैशन के समाचारों से अख़बार के कालम के कालम रंग दिये जाते हैं। उससे भी ख़राब बात यह है कि कभी कभी अपराध तथा दुराचरण का काफ़ी विस्तार के साथ और बहुत सजीव वर्णन किया जाता है। यह उन लोगों के लिए होता है जिनकी कौतूहलता विकृत हो जाती है।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि अख़बार अकसर लोकमत को शिक्षित बनाने में विफल होता है और कभी कभी निश्चयात्मक रूप से उसे विकृत बना देता है। ठीक मत के निर्माण के लिए अन्य चीज़ों के साथ यह बात भी आवश्यक है कि सच्चे समाचारों को पर्याप्त परिमाण में जनता तक पहुँचाया जाय। अगर जनता को पूर्ण तथ्यों का ज्ञान नहीं लाभ करने दिया जाता,—अगर उससे सच्ची बातें या घटनायें छिपाई जाती हैं—तो वह ठीक मत बनाने के साधन से

अख़बार और लोकमत

वञ्चित हो जाती है। समाचारों को तोड़ना-मरोड़ना, मत के निर्माण के लिए बहुत हानिकर है। इसके अतिरिक्त बहुसंख्यक व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके पास स्वतन्त्र मत क़ायम करने के लिए आवश्यक शिक्षा, शक्ति अथवा अवकाश का अभाव रहता है और जो फलतः अख़बारों के मत को ग्रहण कर लेते हैं। वे उन सम्पादकीय टिप्पणियों के द्वारा भ्रम में पड़ जाते हैं जो सत्य और शुद्ध तर्क के मार्ग से विचलित होती हैं। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि साम्प्रदायिक विचार जो असंयत भाव से व्यक्त किये जाते हैं कुछ लोगों में शत्रुता का भाव उत्पन्न कर देते हैं और उनके क्रोध को भड़काते हैं। अख़बारों में इस साम्प्रदायिकता का अर्थ यह होता है कि वे साधारण पाठकों को उन सहानुभूतियों को विस्तृत करने में समुचित प्रभाव नहीं डालते जिन पर सच्चे लोकमत का प्रादुर्भाव अंशतः निर्भर करता है।

अख़बारों से लाभ

हमारी उपरोक्त आलोचना से यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि समाचारपत्र कोई भारी अभिशाप हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि कुछ योग्य, सच्चे और स्वतन्त्र अख़बार भी होते हैं। दूसरी बात यह है कि अपनी सब त्रुटियों के होते हुए भी अख़बार स्थूल रूप से साधारण पाठक को सम्पूर्ण संसार के सम्पर्क में लाते हैं और उसके दृष्टिकोण को पहले से अधिक विस्तृत कर देते हैं। सार्वजनिक मामलों के सम्बन्ध में पाठक

का ज्ञान बढ़ जाता है। जब उसके दृष्टिकोण और हितों का विस्तार बढ़ जाता है तो उसकी सहानुभूतियों के विस्तार का सुयोग उपस्थित होता है। इसके अतिरिक्त, बहुत से पाठक अख़बारों को प्रभावित करने वाले कम से कम कुछ कारणों की अवहेलना करना स्वयं सीख लेते हैं। जो लोग भिन्न भिन्न मतों का समर्थन करने वाले अनेक अख़बारों के पढ़ने के आदी होते हैं उनके मस्तिष्कों में उन मतभेदों के द्वारा वास्तविकता का पता लगाने की प्रेरणा होती है। इस प्रकार लोकमत के निर्माण में कुछ सहायता प्राप्त हो जाती है।

पत्र-साहित्य
मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक पत्र

आवश्यक परिवर्तनों के अनन्तर ये सभी बात साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक तथा त्रैमासिक पत्रों, सामयिक विषयों पर प्रचारार्थ लिखी हुई पुस्तिकाओं और उन गम्भीर पुस्तकों के सम्बन्ध में भी जो सार्वजनिक मामलों की विवेचना करते हैं, लागू होती हैं। इन पत्रों और पुस्तकों को भी उन्हीं ख़तरों का डर है, यद्यपि उतना अधिक नहीं। ये भी उसी प्रकार लोकमत का हित अथवा अहित कर सकते हैं। सरकारी सेन्सर का कार्य, धन का प्रभाव, उच्च श्रेणी के लोगों की संरक्षकता, लोगों की ख़ुशामद, साम्प्रदायिकता, धार्मिक वादवितण्डा तथा राष्ट्रीय पक्षपात—ये सभी बातें पत्र-पत्रिकाओं के लेखों, प्रचार-पुस्तिकाओं तथा ऐतिहासिक और दार्शनिक ग्रन्थों पर प्रभाव डालती हैं। इन पत्रों की तथा दैनिक पत्रों

की स्थिति में विभिन्नता यह है कि ये सामाजिक समस्याओं की तह में अधिक पैठते हैं, अधिक शिक्षित श्रेणियों की सेवा करते हैं और साधारणतः अधिक स्वतन्त्रता के साथ बोलते है। ये बहुत से ऐसे लोगों के विचारों को प्रभावित करते हैं जिन पर राजनीतिक जीवन की ज़िम्मेदारियाँ होती हैं और जो सर्व-साधारण जनता के मत की रहनुमाई करते हैं।

लोकमत के निर्माण में तीसरा साधन राजनीतिक दलों का कार्य है। वे सभायें करते हैं, छोटी छोटी पुस्तिकायें निकालते हैं, निर्वाचक-समुदाय के सामने पेश करने के लिए प्रश्नों तथा उम्मीदवारों का चुनाव करते हैं और इस प्रकार जनता में बहुत काफ़ी जोश और उत्तेजना उत्पन्न कर देते हैं। वे लोकमत को प्रभावित करते हैं, विशेषकर उन सङ्कटपूर्ण अवसरों पर, जब बहुत-से लोग भिन्न भिन्न समस्याओं का निर्णय करने के लिए एकत्रित होते हैं। दल के आधारों तथा उसकी अच्छाइयों और बुराइयों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। अब यहाँ फिर से उनकी विवेचना करने की ज़रूरत नहीं है। केवल यह बतला देना आवश्यक है कि मत पर दल का पूर्ण प्रभाव हो जाने की सम्भावना रहती है। उसका यह प्रभाव कुछ हद तक हितकर होता है लेकिन उसी अवस्था में जब दल साम्प्रदायिक नहीं बल्कि सार्वजनिक हितों के विचार पर अवलम्बित होता है और उदार नीति का समर्थन करता

राजनीतिक दल

है। इस दृष्टि से मत का दल के प्रभाव में आ जाना बुरा नहीं है। किन्तु इसके विपरीत, दल का प्रभाव कभी कभी मत के लिए बुरा भी सिद्ध होता है। यह तब होता है जब दल साम्प्रदायिकता के आधार पर अवलम्बित होता है और ग़लत नीति का समर्थन करता है। दलों का रुख़ साधारणतः उन लोगों के मान, पक्षपात तथा आकांक्षाओं के द्वारा निर्धारित होता है जिनकी सहायता प्राप्त करने का वे प्रयत्न करते हैं।

मत की समस्या

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक मत का सम्बन्ध है अख़बार, सामयिक साहित्य तथा दलों के सङ्गठन हितकर और हानिकारक दोनों हो सकते हैं। वे सच्चे लोकमत के निर्माण में सहायक हो सकते हैं। किन्तु यह भी सम्भव है कि वे साम्प्रदायिक विचारों को उत्पन्न करें और उन्हें क़ायम रक्खें। वे मत को शिक्षित तथा उदार बना सकते हैं और उसे सामाजिक शक्तियों का वास्तविक ज्ञान करा सकते हैं। किन्तु यह भी सम्भव है कि वे केवल विभिन्न समूहों के प्रचलित विचारों और पक्षपातों को और दृढ़ कर दें। अब सवाल यह उठता है कि उक्त ख़तरों से मत की रक्षा कैसे हो सकती है?

समाज-सुधार

यह स्पष्ट है कि जिस हद तक सामाजिक व्यवस्थाओं में न्याय के भाव की व्याप्ति, शिकायतों के दूरीकरण का प्रबन्ध और सामाजिक विभिन्नताओं में सामञ्जस्य होगा उसी अनुपात में सच्चे लोकमत का आविर्भाव होगा। समाज के अन्दर जितनी ही शान्ति और

एकता होगी लोकमत के निर्माण में उतनी ही आसानी होगी। यह समाज-सुधार, मत के ख़तरों को रोकने का सबसे सुन्दर साधन है। इसके बाद दूसरा प्रभावशाली साधन शिक्षा है।

शिक्षा की क्या आवश्यकता है, उसे प्राप्त करने का हमें अधिकार क्यों है और उसके प्रति राज्य तथा स्थानीय बोर्डों का क्या कर्त्तव्य है, इसके सम्बन्ध में हम पहले ही बहुत कुछ लिख चुके हैं। यहाँ हमें केवल इस बात की विवेचना करना आवश्यक है कि मत पर उसका प्रत्यक्षतः क्या प्रभाव पड़ता है। वास्तव में शिक्षा का दुरुपयोग भी किया जा सकता है। कुछ निर्दिष्ट विचारों का ही विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर लादना शिक्षा का अनुचित उपयोग करना है। किन्तु इसके विपरीत, शिक्षा कुछ हद तक दिमाग़ को खोल देती है विचार-शक्ति को दृढ़ करती है, ठीक ठीक बातों की जानकारी कराती है और दृष्टि-कोण को विस्तृत बनाती है। इस दृष्टि से शिक्षा एक सीमा तक लोकमत के प्रादुर्भाव में सहायक होती है। साधारण शिक्षा का मान जितना ही ऊँचा होगा अख़बार, सामयिक साहित्य तथा राजनीतिक दलों के कार्य भी उतने ही ऊँचे दर्जे के होंगे। एक बात और उल्लेखनीय है. शिक्षा पन्द्रह अथवा सोलह वर्ष की अवस्था तक प्रत्येक समाज में और प्रत्येक बालक-बालिका के लिए अनिवार्य होनी चाहिए। इसके बाद उच्च शिक्षा का जितना ही व्यापक प्रचार होगा मत को ठीक रास्ते पर ले

शिक्षा

जाने वाले लोगों की संख्या उतनी ही अधिक होगी। शिक्षा विचार-शक्ति को दृढ़ बना देगी और जनता को अनुचित जोश तथा उत्तेजना के प्रवाह में बह जाने से रोकेगी। उच्च शिक्षा बहुसंख्यक व्यक्तियों को इस योग्य भी बना देगी कि वे पत्रकारों, ग्रन्थकारों तथा राजनीतिज्ञों के तर्क-दोष को पकड़ सकें और उनके अनेक पक्षपातपूर्ण विचारों की अवहेलना कर सकें।

साथ ही मत के निर्माण और सङ्गठन के साधनों का प्रत्यक्ष रूप से सुधार करना भी आवश्यक है। इसके लिए कुछ उद्योग करना उचित है। अगर विश्वविद्यालयों में

सामाजिक विज्ञान का पठन-पाठन

सामाजिक विज्ञानों का गहरा अध्ययन किया जाय तो सार्वजनिक मामलों से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे बहुत-से लेखक और पत्रकार उत्पन्न हो सकते हैं जो आवश्यक बुद्धि, व्यावहारिक शिक्षा तथा विचारों से सम्पन्न हों। साथ ही बहुत-से ऐसे पाठक पैदा हो जायँगे जो सार्वजनिक विषयों के उच्च कोटि के लेखकों और वक्ताओं की अपेक्षा करेंगे। विद्वत्समितियाँ सार्वजनिक प्रश्नों के वैज्ञानिक अध्ययन का काम अपने हाथ में ले सकती हैं और जनता के लाभार्थ आवश्यक तथ्यों, आँकड़ों तथा प्रस्तावित हलों को प्रकाशित कर सकती हैं। इस प्रकार का समाज-विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य, शुद्ध साम्प्रदायिक विचारों का अमूल्य प्रति-रोधक होगा।

इसी प्रकार प्रत्येक राजनीतिक दल के सङ्गठन को स्वार्थी

और अदूरदर्शी गुट्टों के नियन्त्रण तथा कुमन्त्रणा से मुक्त करना होगा। इस सम्बन्ध में भी अच्छे नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उस दल के कार्यों और मामलों में सक्रिय दिलचस्पी लें जिसके सिद्धान्त उनके विचारों से मेल खाते हों। अगर वे इस बात पर ध्यान रक्खें कि हमारा दल कहीं देश के व्यापक हितों पर आघात तो नहीं करता तो देश का बड़ा उपकार हो सकता है। यहाँ पर शासन-सम्बन्धी एक ऐसी युक्ति का उल्लेख किया जा सकता है जो सार्वजनिक जीवन को पवित्र बनाने में योग देती है। नियुक्ति का अधिकार राजनीतिज्ञों के हाथ से लेकर पब्लिक सर्विस कमीशनों के सिपुर्द करना चाहिए क्योंकि राजनीतिज्ञ इस अधिकार का दुरुपयोग करते हैं। सच पूछा जाय तो अनेक साहसी व्यक्ति, इसी अधिकार के प्रलोभन से राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। उन कमीशनों को ऐसा होना चाहिए कि मन्त्रियों तथा दल के बहुमत का उन पर कुछ प्रभाव न पड़ सके।

दल का सुधार

ऊपर बतलाये हुए तरीकों से मत को अज्ञान, सङ्कीर्णता तथा घृणित चालों के खतरों से मुक्त करना सम्भव होगा। शिक्षित तथा उदार लोकमत इस बात को आसानी से समझ सकेगा कि सम्पूर्ण समाज का ही नहीं बल्कि सारे संसार का हित एक में आबद्ध है। साम्प्रदायिक या गलत मत इस बात को नहीं समझ सकेगा। शिक्षित लोकमत अपनी सारी शक्ति का उपयोग साम्प्रदायिक हितों को अग्रसर करने के

लोकमत का काम

लिए नहीं, बल्कि देशव्यापी शिक्षा, देशव्यापी आर्थिक कल्याण और स्वास्थ्य तथा सफ़ाई के देशव्यापी सुधार आदि बातों की व्यवस्था करेगा। संक्षेप में, वह सबको सुखी बनाने तथा सबको आत्म-विकास का सुयोग देने का प्रयत्न करेगा। वह द्वेष, पक्षपात तथा क्रोध पर नहीं बल्कि बुद्धि और सहानुभूति पर निर्भर करेगा। वह इस बात पर ज़ोर डालेगा कि ज़िम्मेदारी के ऊँचे पदों पर जो लोग नियुक्त किये जायँ उनमें उच्च कोटि का ज्ञान, ईमानदारी तथा सार्वजनिक सेवा का भाव होना चाहिए। किन्तु वह वस्तुतः नीति-सम्बन्धी सूक्ष्म बातों, बिल की धाराओं अथवा कार्यकारिणी के निर्दिष्ट कार्यों के औचित्य या अनौचित्य पर राय नहीं प्रकट कर सकेगा। यह काम विशेषज्ञों का है। साधारण मनुष्य जिसका ज्ञान और अवकाश का समय सीमित है यह कार्य नहीं कर सकता। किन्तु लोकमत एक काम कर सकता है। वह किसी निर्दिष्ट समय में इस बात का निर्णय कर सकता है कि किस राजनीतिक दल को प्रभुता के स्थान में प्रतिष्ठित करना चाहिए। उसे इस बात का भी निर्णय करने के योग्य होना चाहिए कि शासन-प्रबन्ध तथा क़ानून-निर्माण में किस नीति का अनुसरण करना उचित होगा। शिक्षा का प्रचार, अवकाश की व्यवस्था तथा दायित्व के उपयोग और मत के व्यक्तीकरण के लिए शासन के तरीक़ों में सुधार हो जाने के साथ वह उदासीनता जिसकी राजनीतिक आलोचकों ने बड़ी निन्दा की है, दूर हो जायगी।

ग्यारहवाँ अध्याय

नागरिक जीवन

नागरिक शास्त्र अपने साथी राजनीति-शास्त्र अथवा अर्थ-शास्त्र की भाँति विज्ञान और कला दोनों है। यह केवल सामाजिक घटनाओं का अनुसंधान ही नहीं करता बल्कि सुधारों का भी निर्देश करता है। वह जीवन को अधिक अच्छा बनाने का उद्योग करता है—थोड़े या बहुत लोगों के लिए नहीं बल्कि सभी लोगों के लिए। स्त्री, पुरुष और बच्चे सभी के जीवन को वह अच्छा बनाता है। इसमें वह जाति, मत, रङ्ग अथवा वर्ण का भेदभाव नहीं करता। वह बतलाता है कि नागरिक जीवन के लिए सर्वोत्तम अवस्थायें क्या हैं और उन अवस्थाओं को समाज में क़ायम करने के लिए क्या उद्योग करना चाहिए। वह इस बात को स्वीकार करता है कि भिन्न भिन्न स्थानों की संस्थाओं के रूपों में विभिन्नता का होना अनिवार्य है। किन्तु साथ ही वह इस बात पर ज़ोर डालता है कि कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो सबमें पाये जाते हैं। संसार में सर्वत्र इन्हीं सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध शासित होना चाहिए ताकि उत्कृष्ट दर्जे का जीवन सुरक्षित रहे।

जीवन की उत्तमता

नागरिक जीवन प्रत्येक अर्थ में एक सहकारी व्यवसाय है। यह केवल एक साथ रहने वाले आदमियों के लिए ही सम्भव है।

मनुष्यों की अन्योन्याश्रयता

उस व्यक्ति के लिए जिसका अन्य मनुष्यों के साथ कोई सम्पर्क ही न हो नागरिक जीवन, राजनीति अथवा नीतिविद्या का कोई सवाल ही नहीं है। नागरिक जीवन मनुष्यों की अन्योन्याश्रयता पर अवलम्बित है। मनुष्य अपने को एक दूसरे के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्धों से बँधे हुए समझते हैं और वे एक दूसरे की बहुत-सी सेवायें करते हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक इमैनुयल कान्ट का यह कथन बिलकुल सत्य है कि मनुष्य स्वतः एक साध्य है। इसका तात्पर्य्य यह है कि सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के सुख का ख़्याल रखना चाहिए। किसी व्यक्ति को दूसरों के सुख का साधन नहीं समझना चाहिए। उसे आत्म-विकास करने का उतना ही अधिकार प्राप्त है जितना कि अन्य किसी व्यक्ति को। किन्तु वास्तव में मनुष्यों को मिलकर एक साथ रहना पड़ता है और उन्हें एक दूसरे की सहायता से आत्म-विकास करना होता है। जीवन की सुविधाओं, आरामों तथा नैतिक उन्नति के लिए वे एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार यह कहकर कि व्यक्ति एक दूसरे के साध्य और साधन दोनों हैं, हम कान्ट के कथन की व्याख्या कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त एक दूसरे गहरे अर्थ में यह कहना भी

सत्य है कि मनुष्य, जीवन की उत्तमता के सम्बन्ध में एक दूसरे पर आश्रित है। अच्छा जीवन कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के लिए निश्चयात्मक रूप से तभी सुरक्षित किया जा सकता है जब कि वह दूसरे लोगों के लिए भी सुलभ कर दिया जाय। कुछ उदाहरणों की सहायता से यह बात और स्पष्ट की जा सकती है। मान लो कि किसी गाँव या नगर में थोड़े-से कुटुम्ब बिलकुल नीरोग तथा स्वास्थ्यप्रद जीवन व्यतीत करने की कोशिश करें। कुछ हद तक तो वे इसमें सफल होंगे किन्तु वास्तव में वे तब तक बीमारी के ख़तरों से मुक्त नहीं हो सकेंगे जब तक कि सारी बस्ती में स्वास्थ्य और सफ़ाई का पूरा इन्तज़ाम नहीं कर दिया जायगा। रोग के कीटाणु गन्दे स्थान से साफ़-सुथरे स्थान पर चले जाते हैं। इस तरह वे किसी पर भी आक्रमण कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, चेचक, हैज़ा और प्लेग न केवल नगर के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में फैल जाते हैं बल्कि एक ज़िले से दूसरे ज़िले में और एक देश से दूसरे देश में पहुँच जाते हैं। कीटाणुओं को अपने पैदा होने तथा बढ़ने के अनुकूल कोई असाधारण रूप से गन्दा और अस्वस्थकर स्थान मिल जाता है। फिर वे बहुत जल्द ही बढ़कर दस गुने, बीस गुने और सौगुने हो जाते हैं और उस स्थान से बहुत दूर दूर तक फैल जाते हैं। रोग से बचने का सबसे अचूक उपाय यह है कि सब जगह उन अवस्थाओं को

जीवन की उत्तमता में अन्योन्याश्रयता

जो कि बीमारी की जड़ है, दूर कर दिया जाय। कुटुम्ब का स्वास्थ्य अन्ततो गत्वा अन्य सब कुटुम्बों के स्वास्थ्य पर निर्भर करता है।

शिक्षा के सम्बन्ध में अन्योन्याश्रयता

शिक्षा अन्योन्याश्रयता का एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करती है। शिक्षा मस्तिष्क को स्वतन्त्र कर देती है। इसका तात्पर्य यह है कि उसकी बदौलत हमारा मस्तिष्क स्वतन्त्र रूप से सोचने-विचारने लगता है, वह दूसरों के विचारों का गुलाम नहीं रह जाता। किन्तु अगर कुछ लोग शिक्षित हैं और उनके पड़ोसी अशिक्षित हैं तो उसका परिणाम यह होता है कि शिक्षित लोग भी आगे नहीं बढ़ने पाते। सम्भव है कि वे अशिक्षित जन-समुदाय में फैले हुए अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और भ्रमपूर्ण विचारों से अपने को मुक्त न कर सकें। उनकी अपनी सुधार-योजनायें अपढ़ लोगों की काहिली के द्वारा अवरुद्ध हो सकती हैं। यह भी सम्भव है कि वे स्वयं नेतृत्व की होड़ में अशिक्षित जन-समुदाय के रागद्वेषों से अनुचित लाभ उठाने के प्रलोभन में आ जायँ। यह सब कुछ इतना अधिक होता है कि कुछ लोगों को शिक्षा में विश्वास नहीं रह जाता। उन्हें यह देखकर दुःख होता है कि शिक्षित व्यक्ति विश्वासघात करते हैं। वे फ़ौरन इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि शिक्षा से समाज का शायद ही कोई हित होता हो। किन्तु इस बुराई का कारण यह नहीं है कि समाज में कुछ लोग शिक्षित हो गये हैं बल्कि यह है कि

और लोग अशिक्षित हैं। शिक्षा का सर्वोत्तम परिणाम तभी देखने में आ सकता है जब उसका प्रचार देश भर में हो जाय और अशिक्षितों के द्वारा शिक्षितों के प्रभावित होने का सवाल ही न रह जाय। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि शिक्षा के सम्बन्ध में समाज के अन्दर घनिष्ट अन्योन्याश्रयता है।

आर्थिक मामलों में अन्योन्याश्रयता आधुनिक काल की सर्वप्रधान बात है। तनिक-सा विचार करने पर प्रत्येक आदमी को मालूम हो जायगा कि एक समूह की आर्थिक उन्नति अन्य समूहों की आर्थिक उन्नति पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, अगर किसी कारखाने के मज़दूरों को दूसरे कारखाने के उसी श्रेणी के मज़दूरों की बनिस्बत ज्यादा मज़दूरी मिलती हो तो परिणाम यह होगा कि उसकी बनिस्बत दूसरा कारखाना अपने माल को कम दाम पर बेच सकेगा। ऐसी अवस्था में उसे या तो हानि सहन करनी होगी या कम से कम अपेक्षाकृत बहुत थोड़े ही लाभ से सन्तोष करना पड़ेगा। अतः उसके स्वामी को निरन्तर इस बात का प्रलोभन होगा कि हम अपने मज़दूरों की मज़दूरी घटाकर उतनी ही कर दें जितनी कि दूसरे कारखाने के लोगों को मिलती है। इसी प्रकार अगर कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा कम मज़दूरी पर काम करने के लिए तैयार हो जायँ तो दूसरे लोगों को भी आज नहीं तो कल या दो दिन और आगे उतनी ही मज़दूरी पर काम करने के

आर्थिक अन्योन्याश्रयता

लिए मजबूर होना पड़ेगा। मज़दूरी में वृद्धि तभी सुरक्षित बनी रहेगी जब कि उसकी व्यवस्था सभी मज़दूरों के लिए की जाय। उदाहरणार्थ, यदि राज्य निश्चित कर दे कि सभी कारखानों के मज़दूरों को कम से कम इतनी मज़दूरी दी जाय अथवा अगर सभी मज़दूर आपस में मिलकर यह तय कर लें कि हम इतने से कम पर काम करने के लिए नहीं राज़ी होंगे तो सब जगह अच्छी मज़दूरी एक रूप से क़ायम रह सकेगी। ये ही बातें काम करने के घंटों के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं। जो फ़ैक्टरी अपने मज़दूरों से दूसरों की अपेक्षा कम घंटे काम लेती है वह देखेगी कि दूसरी फ़ैक्टरियाँ अपना माल उससे कम दाम पर बेचती हैं और इस प्रकार वह सारी स्थिति पर फिर से विचार करने के लिए बाध्य होगी। किन्तु अगर सभी कारखानों के लिए समान घंटे स्थिर हैं तो कोई कारख़ाना दूसरों की बनिस्बत ज़्यादा काम नहीं ले सकेगा। इसी प्रकार अगर बाज़ार के सभी दूकानदार अपनी दूकान सबेरे आठ बजे खोलें और शाम को छः बजे बन्द कर दें तो किसी के सम्बन्ध में अनुचित लाभ कमाने का सवाल नहीं पैदा होगा। किन्तु अगर उनमें से कुछ लोग सात बजे सबेरे अपनी दूकान खोलनी शुरू कर दें और सात बजे शाम तक उसे खुली रक्खें तो बाक़ी दूकानदारों को भी वही करना पड़ेगा। इसका परिणाम यह होगा कि सबके लिए काम के घंटे ज़्यादा और अवकाश के घंटे कम हो जायँगे।

अन्योन्याश्रयता जो सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा तथा आर्थिक कल्याण के क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है कभी कभी बहुत सूक्ष्म रूप से सामाजिक रीति-रिवाजों के द्वारा भी अपना आभास देती है।

परम्परागत रीति-रस्म का बल

स्थूल रूप से, परम्परागत रीति-रस्मों का समाज के साथ वही सम्बन्ध है जो आदतों का व्यक्ति के साथ है। वे सामाजिक व्यवहार के नियमों के संग्रह हैं। वे भूतकाल के ज्ञान और हितों को प्रकट करते हैं। बहुत-से लोग फ़ौरन आस-पास के प्रचलित रीति रिवाजों के अधीन हो जाते हैं। जिस जन-समूह के साथ उनके भाग्य का सम्बन्ध जुड़ जाता है उसी के भावों को वे ग्रहण कर लेते हैं। उनके आचरण का विकास मुख्यतः उस वातावरण के अनुसार होता है रीति-रस्मों का समूह जिसका एक अंग है। इसी प्रकार उनकी रुचियों और आकांक्षाओं का विकास भी इर्द-गिर्द के रीति-रस्मों द्वारा होता है।[1] वास्तव में हमें यह समझना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रत्येक साँस के द्वारा हवा के साथ सामाजिक रस्म-

१—पश्चिम के अनेक समाजविज्ञानवेत्ताओं ने वैज्ञानिक रूप से इस बात का अध्ययन किया है कि मनुष्य की शारीरिक, नैतिक, तथा मानसिक विशेषताओं पर पड़ोस का क्या प्रभाव पड़ता है। अब निश्चयात्मक रूप से यह ज्ञात हो गया है कि व्यक्तित्व को रूप देने में जो कारण काम करते हैं उनमें एक पड़ोस भी है—वह पड़ोस जिसमें मनुष्य ने जन्म लिया है और जिसमें उसका पालन-पोषण हुआ है।

रिवाजों को भी ग्रहण करता रहता है। नैतिक प्रयत्न तथा विचार-शक्ति के द्वारा कोई व्यक्ति उनके प्रभाव से अपने को अंशतः मुक्त भले ही कर ले किन्तु वह उनसे पूर्णतया अपना बचाव नहीं कर सकता। थोड़े-से लोग जो अपने को रीति-रस्मों के प्रभाव से मुक्त समझते हैं निरन्तर उन लोगों के घनिष्ट सम्पर्क में रहते हैं जो परम्परागत सामाजिक रीति-रस्मों—आचरण और विचार की साधारण पद्धतियों—के बन्धनों से जकड़े रहते हैं।

ये रीति-रस्म समाज के लोगों की अनेक पारस्परिक क्रियाओं—सम्मिलित विचार और व्यवहार—के परिणाम हैं। वे विभिन्न समूहों की स्थिति को निश्चित करते हैं और सामाजिक जीवन की प्रगति के मार्ग को निर्धारित कर देते हैं। वे परिवर्तनशील हैं। संसार की कोई भी वस्तु सदा एक अवस्था में स्थिर नहीं रहती।[1] वास्तव में नई आवश्यकताओं, नये विचारों, नई प्रगतियों तथा धन के नये प्रादुर्भाव के अनुसार वे आवश्यक रूप से तबदील होते रहते हैं। किन्तु कभी कभी वे बहुत ही मन्द गति से बदलते हैं और कभी कभी उनका परिवर्तन हितकर होने के बजाय हानिकर सिद्ध होता है। समाज को आवश्यकता इस बात की है कि रीति-रस्म

रीति-रस्मों में सुधार

१—संसार में किसका समय है एकसा रहता सदा—
श्री मैथिलीशरण गुप्त

समय के साथ साथ रहें, उसके बहुत पीछे न रह जायँ। वे इस योग्य हों कि अपने को शीघ्र ही बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल कर लें। उदाहरणार्थ, ऐसे समय में जब कि समाज देहात की अवस्था से नगर की अवस्था की ओर और कृषि से औद्योगिक अवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है, रीति-रस्मों में सुधार या परिवर्तन करना आवश्यक है। इसी प्रकार जब स्त्रियों को स्वतन्त्रता मिल जाय और पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी सभा-समितियों में शामिल होने लगें तो समाज के प्रचलित रीति-रवाजों में संशोधन-परिवर्तन करना आवश्यक है। ऐसी सभा-समितियों के लिए जिनमें स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित हों इस बात पर ज़ोर देना और भी आवश्यक प्रतीत होता है कि उनके पारस्परिक संभाषण में पवित्रता और शिष्टता का ख़्याल रक्खा जाय। सामाजिक शिष्टता तथा अल्पभाषण का अभ्यास बढ़ाना आवश्यक है। साथ ही दूसरों से कुछ अन्तर रखना भी उचित है। उन समाजों में जहाँ स्त्रियाँ और पुरुष एक साथ नहीं मिलते बिना किसी भूमिका या शिष्टाचार के एक दूसरे के साथ बोलना-बतलाना साधारण रवाज हो गया है और यह अनुचित भी नहीं है। किन्तु जब स्त्रियों की स्वतन्त्रता के साथ समाज के अन्दर स्त्रियों और पुरुषों का सम्पर्क बढ़ने लगे तो यह उचित होगा कि इँगलैण्ड तथा अन्य देशों में प्रचलित यह शिष्टाचार ग्रहण किया जाय कि विधिपूर्वक परिचित हो जाने के पूर्व एक दूसरे से नहीं बोलना

चाहिए। दो परिचित स्त्री-पुरुष में बातचीत होने के समय कुछ शिष्टाचार का होना बहुत आवश्यक है। परिवर्तन-काल में कभी कभी ऐसा होता है कि कुछ लोग अपने परम्परागत रीति-रस्मों को छोड़ तो बैठते हैं किन्तु न तो वे नये रीति-रवाजों को ग्रहण कर पाते हैं और न अपने लिए नये सिद्धान्तों का ही निर्माण कर सकते हैं। वे अपने को अथाह समुद्र के प्रबल प्रवाह में बहते हुए पाते हैं। वे तुच्छ तथा फ़जूल की बातों में सिरपच्ची किया करते हैं और लापरवाह हो जाते हैं। उन्हें संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं दिखाई देती जिसे वे अपने जीवन और मरण का विषय बनायें। सामञ्जस्यपूर्ण सामाजिक जीवन से अपना नाता तोड़ लेने वाले ऐसे ही व्यक्तियों का दृश्य देखकर बहुत-से लोग परिवर्तन के नाम से घबड़ाते हैं। वे सभी प्रकार के परिवर्तनों से डरने लगते हैं और पुराने रीति-रस्मों से और भी अधिक चिमट जाते हैं। किन्तु यह आवश्यक रूप से परिवर्तन का दोष नहीं है। दुख की बात यह है कि परम्परागत रीति-रस्मों को नई परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बनाया गया और न नये सिद्धान्त ही सोचकर निर्धारित किये गये हैं।

किन्तु रीति-रवाजों का स्वाभाविक और वाञ्छनीय परिवर्तन केवल उसी अवस्था में हो सकता है जब कि समाज के लोग सुबुद्धिसम्पन्न तथा प्रगतिशील हों। जनसाधारण का नैतिक और मानसिक दृष्टिकोण जैसा होगा सामाजिक जीवन का साधारण वातावरण भी वैसा ही होगा। चूँकि

वह वातावरण प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करता है अतः यह कहना ठीक ही है कि प्रत्येक व्यक्ति उस सामान्य योजना के लिए जिसके अन्दर उसे अपना जीवन व्यतीत करना है समाज के अन्य सभी व्यक्तियों पर निर्भर है। इसका विलोम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उस वातावरण पर प्रभाव डालने का अधिकार है जिसके अन्तर्गत सबको रहना है।

रीति-रवाज तथा सुबुद्धि

अन्योन्याश्रयता सामाजिक जीवन की सर्वप्रधान वस्तु है। इससे एक बहुत महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलता है। वह यह है कि सारा उद्योग और संगठन-कार्य सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए होना चाहिए। सबके लिए सुख, उन्नति तथा आत्म-विकास की अनुकूल अवस्थाओं को सुलभ कर देना चाहिए। शिक्षा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को देनी चाहिए और प्रत्येक की निर्धनता को दूर करना चाहिए। अगर कुछ लोगों में अज्ञान, गन्दगी तथा निर्धनता बनी रह जायगी तो प्रायः प्रत्येक नागरिक के जीवन पर उनका बुरा प्रभाव पड़ेगा। अगर सर्वसाधारण जनता अज्ञान और दरिद्रता में निमग्न रहेगी तो उन थोड़े-से लोगों के जीवन का मान भी जो सुशिक्षित और मालदार हैं, नीचा हो जायगा। ऐसी अवस्था में, जब कि समाज के विभिन्न अंगों की अवस्था का प्रभाव एक दूसरे पर इतना अधिक पड़ता है, हम कह सकते हैं कि उसमें एक मौलिक

नागरिक जीवन

एकता है। इस अर्थ में हम समाज को एक प्राणी कह सकते हैं। समाज के सभी व्यक्तियों के कल्याण की अधिक से अधिक वृद्धि करने में ही समाज का वास्तविक हित है। जैसा कि हम पीछे बतला आये हैं न्याय भी यही कहता है। नागरिक जीवन एक ऐसा सामूहिक जीवन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों को इस तरह व्यवस्थित करता है कि वे दूसरों के आत्म-विकास के सुयोग में बाधक न सिद्ध हों। यही नहीं उतनी ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह व्यक्ति दूसरों के आत्म-विकास में सहायक होता है। इस प्रकार नागरिक जीवन एक ऐसा जीवन सिद्ध होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सार्वजनिक हित के सिद्धान्त पर सभी लोगों की सेवा करता है।

नागरिक संगठन के सिद्धान्त

इसी सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक संस्थाओं को अपना अपना काम करना चाहिए। नागरिक संगठन वस्तुतः ऐसा संगठन है जो निरे साम्प्रदायिक कल्याण के आधार पर नहीं बल्कि सार्वजनिक हित के आधार पर अवलंबित है। इसका तात्पर्य यह है कि कुटुम्ब को अपना हित और कल्याण साधन करते समय दूसरे कुटुम्बों के हितों को नहीं कुचलना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि दूसरों की स्थिति से अनुचित लाभ उठाये बिना ही अपनी जीविका उपार्जन करे। इसी प्रकार प्रत्येक समुदाय को अपने कार्य का संचालन इस प्रकार करना चाहिए कि दूसरों के हित की हानि न होने पावे।

राज्य को तो ख़ास तौर से चाहिए कि निष्पक्ष रूप से अपने सभी नागरिकों के हितों को आगे बढ़ाये और संसार के हित के लिए दूसरे देशों के साथ सहयोग करे। डि एलेम्बर्ट नामक एक फ्रांसीसी दार्शनिक ने कहा था कि "मुझे अपना कुटुम्ब अपने से, अपना देश अपने कुटुम्ब से तथा मानवसमाज अपने देश से अधिक प्रिय है।"[१] किन्तु अगर समाज ठीक से व्यवस्थित हो तो अधिक या कम प्रिय होने का कोई सवाल ही नहीं उठे। मनुष्य अपने अपने कुटुम्ब, देश और मानवसमाज के कल्याण में सामञ्जस्य स्थापित देखेगा। इन सब हितों का समन्वय हो जायगा। वे सब आपस में एक दूसरे से मिले हुए होंगे। बहुत दिन हुए संस्कृत के एक कवि ने कहा था कि "उदार चरित वाले के लिए तो सारा संसार ही अपना कुटुम्ब है।[२]" प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपना दृष्टिकोण उदार बनाये, सबके प्रति सहानुभूति रक्खे, सब पर दया करे[३] और सब की सहायता करने

१—इसी आशय का एक श्लोक संस्कृत में है जो इस प्रकार है :—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

हितोपदेश

२—अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

हितोपदेश

३—आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।

के लिए तैयार रहे। प्रत्येक को सामाजिक कल्याण में दिलचस्पी लेनी चाहिए और उसे निरन्तर अपने सामने रखना चाहिए।

नागरिक जीवन और नागरिक संगठन केवल सामान्य ज्ञान या सुबुद्धि पर ही नहीं बल्कि ऊँचे दर्जे के आचरण पर भी निर्भर करते हैं। आचरण का गठन मुख्यत: सामाजिक है। दूसरों के सुख और कल्याण का अपने आप ख़याल रखना ही इसका सार है। सार्वजनिक हित के निमित्त काम करने तथा दुख झेलने के लिए तैयार रहना ही उस आचरण की पराकाष्ठा या चरमसीमा है। आचरण का बल अधिक कार्य सम्पादन में उतना ही दिखाई पड़ता है जितना कि दूसरों के लिए उदाहरण प्रस्तुत करने में। वह सभी तुच्छ बातों, ईर्ष्या-द्वेष, मूर्खता तथा अहंकार से बिलकुल परे या पृथक् रहता है क्योंकि ये चीज़ें निर्दिष्ट हानि पहुँचाने के अतिरिक्त सामाजिक रीति-रस्मों को गन्दा बना देती हैं और सामाजिक एकता एवं सहयोग को नष्ट कर देती हैं। ग़ौर करने पर मालूम होगा कि सच्चा आचरण स्थिर नहीं बल्कि गतिशील है। वह दूसरों को कभी हानि नहीं पहुँचाता बल्कि उनका हित करने में ही लगा रहता है। अनेक तथा-कथित भले आदमियों में सबसे ख़राब बात यह है कि वे हृदयहीन तथा उत्साहशून्य होते हैं। वे बुराई को दूर करने तथा कल्याण को अग्रसर करने के लिए कोई चेष्टा

आचरण

नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि उनके आचरण का अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ है। वह अर्द्ध-विकसित ही है। अगर भले लोग चुपचाप बैठे रहकर सन्तुष्ट रहें तो समाज के लिए एक बड़ी दुःखजनक बात होगी। आचरण अपनी चरम-सीमा पर समार्जीकृत शक्ति है। जिस अनुपात में स्त्रियाँ और पुरुष उस सीमा तक पहुँचेंगे उसी अनुपात में नागरिक आदर्श की प्राप्ति होगी।

आचरण तथा वातावरण

किन्तु यह ख़याल करना ग़लत है कि केवल उपदेश और उद्बोधन के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र का आचरण ऊँचे मान तक पहुँचाया जा सकता है। उपदेश का कुछ प्रभाव पड़ता है। उदाहरण उससे अधिक प्रभावजनक है। अनेक व्यक्ति नैतिक उद्योग के द्वारा नैतिक उन्नति कर लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रलोभन में न पड़े और जीवन तथा उसकी समस्याओं के प्रति उदार रुख़ अख़्तियार करे। किन्तु तथ्यों का सामना करना आवश्यक है। यह जरूर समझ लेना चाहिए कि आचरण अनिवार्यतः सामाजिक संस्थाओं, परम्परागत रीति-रस्मों और वातावरण से प्रभावित होता है। बहुत-से लोग विभिन्न दलों के आपसी लड़ाई-झगड़ा, एक दूसरे को चूसने के उद्योग, गन्दगी, दरिद्रता, भ्रम तथा अज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठ पाते। बहुसंख्यक युवक पवित्र उद्देश्यों तथा उदारतापूर्ण उत्साह के

साथ अपना जीवन प्रारम्भ करते हैं किन्तु संसार के विस्तृत अनुभव तथा प्रतिक्रियायें उनके आदर्शवाद को ठंढा और उत्साह को मन्द कर देती हैं। उनका भ्रम दूर हो जाता है। उनकी मोहनिद्रा भङ्ग हो जाती है। वे सनकी तथा चिड़चिड़े हो जाते हैं अथवा कम से कम सर्वसाधारण के दर्जे पर आ गिरते है। यह कहना कि आयु तथा प्रौढ़ होती हुई बुद्धि के प्रभाव से उनमें यह परिवर्तन होता है, ग़लत है। अवस्था तथा ज्ञान तो वास्तव में सहानुभूतियों को संकुचित नहीं बल्कि विस्तृत करते हैं। वास्तविक बात यह होती है कि संकीर्ण तथा एकान्तिक रीति-रस्मों, विशेषाधिकार-प्राप्त समूहों तथा समुदायों और विलासिता एवं निर्धनता के विरोध का संघर्ष युवकों के चित्त पर प्रभाव डालता है और उनको प्रचलित परिस्थितियों के अनुकूल बना देता है। फलतः उन लोगों को जो समाज का सुधार करना चाहते हैं केवल आचरण का उपदेश देकर अथवा उसका उदाहरण प्रस्तुत करके ही सन्तोष न कर लेना चाहिए। उन्हें सावधानी के साथ सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए और सुयोग की समानता तथा न्याय के आधार पर आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का पुनर्संगठन करने के लिए बुद्धि तथा नैतिक बल से काम लेना चाहिए। नागरिक जीवन का विकास करने का यही तरीक़ा है। न केवल वैयक्तिक उन्नति का बल्कि संस्थाओं के सुधार का भी यही ढङ्ग है।

यह नैतिक साधन को अधिक महत्त्व देता है किन्तु आर्थिक तथा राजनीतिक साधनों की उपेक्षा नहीं कर सकता। यह मानता है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलू एक दूसरे के साथ इस प्रकार आबद्ध हैं कि अलग नहीं किये जा सकते। जीवन को हम ऐसे विभिन्न भागों में नहीं बाँट सकते जो एक दूसरे से बिलकुल पृथक् हों और कुछ लगाव न रखते हों। नागरिक जीवन के विश्लेषण से हमारे इस कथन का समर्थन होता है कि सुधार सब क्षेत्रों में साथ साथ होना चाहिए। प्रोफ़ेसर हाबहाउस का कथन है कि "किसी प्रकार का सामाजिक परिवर्तन तालाब में फेंके गये पत्थर की भाँति है। उसके परिणामस्वरूप परिवर्तन की जो लहरें उठेंगी वे सभी दिशाओं में विकीर्ण हो जायँगी।" किन्तु अधूरे परिवर्तन से समाज की बहुत कुछ बरबादी हो जाती है। अतः परिवर्तन सुचिन्तित योजना के अनुसार होना चाहिए।

नागरिकों के कर्त्तव्य

नागरिक शास्त्र इस बात पर जोर देता है कि सब लोगों को अपना अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। किन्तु साथ ही वह यह भी बतलाता है कि कर्त्तव्यों को पहले समुचित रूप से समझ लेना चाहिए। कर्त्तव्यों की सम्पूर्ण योजना को विस्तृत सामाजिक क्षेत्र के अन्दर समाविष्ट करना उचित है। नागरिक के कर्त्तव्य का इतिश्री इतने से ही नहीं हो जाता कि वह क़ानून का पालन करे और चुनावों में वोट दे।

उसे यथाशक्ति सामाजिक समस्याओं को समझना चाहिए और उनके हल में योग देना चाहिए। वह जीवन के चाहे जिस क्षेत्र में हो, उसे समाज के कल्याण को अग्रसर करने की कोशिश करनी चाहिए। अगर वह सार्वजनिक कर्मचारी है तो अपनी शक्ति भर सामाजिक हित में योग देना उसका कर्त्तव्य है। उसे सभी प्रकार के पक्षपात, प्रलोभन तथा स्वार्थ से परे रहना चाहिए, उनसे प्रभावित नहीं होना चाहिए। अगर नागरिक, व्यवसायिक अथवा सौदागर है तो उसे मुख्यतः यह सोचना चाहिए कि जनता की आवश्यकता की पूर्ति करने का सबसे अच्छा तरीक़ा क्या होगा। अपने लाभ का ख़्याल उसे गौण रूप से करना चाहिए। अगर वह वकील, डाक्टर अथवा अध्यापक है तो उसे इसी भाँति अपने पद को मुख्यतः किसी आवश्यक सामाजिक कार्य के सम्पादन में भाग लेने का एक सुयोग समझना चाहिए। नागरिक को अपने व्यवसाय में अपने व्यक्तित्व के व्यक्तीकरण का अवसर खोजना चाहिए। सामाजिक सेवा का सजीव भाव उस व्यक्तीकरण का एक अङ्ग है। नागरिक जीवन ऐसा सामञ्जस्यपूर्ण जीवन है जिसमें व्यक्तित्व और सामाजिक सेवा का व्यक्तीकरण एक ही में मिला हुआ है। फिर अपने लिए जीने तथा समाज के लिए जीने में कोई विरोध नहीं रह जाता। कंडोरसेट के इस कथन में सत्य छिपा हुआ है कि "दूसरों के लिए जीवन धारण करो, तभी तुम अपने लिए जीवित रह सकते हो।" व्यक्ति का सर्वोच्च

हित सामाजिक कल्याण में है। जीवन की समस्या को नागरिक शास्त्र इसी प्रकार हल करता है। यह हल सामाजिक जाग्रति के—जो कि कुटुम्ब अथवा समूह की भावना से कुछ अधिक विस्तृत है—बल पकड़ने पर निर्भर करता है। यही सामाजिक जाग्रति सामाजिक उपयोगिता का आधार है।

——

GLOSSARY

अ

अंगीभूत	Embodied
अंतर्जात	Innate
अंतर्राष्ट्रीय	International
अंतर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत	Permanent Court of International Justice
अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन	International Labour Organisation
अंतर्सम्बन्ध	Interrelation
अधिकार-क्षेत्र	Area of jurisdiction
अतीत	Past
अद्वैतवादी धर्म	Monotheistic Religion
अध्यक्षात्मक शासन	Presidential Government
अध्यात्मविद्या	Metaphysics
अनियमित	Irregular; Informal
अनिवारणीय	Inevitable
अनिवार्य शिक्षा	Compulsory Education
अनुपात	Proportion
अनुसंधान	Investigation

अनेकता	Multiplicity
अन्योन्याश्रय	Interdependence
अप्रत्यक्ष लोकतंत्र	Indirect Democracy
अभावग्रस्त	Submerged
अभिव्यक्ति	Expression
अराजकता	Anarchy
अर्थशास्त्र	Economics
अलिखित विधान	Unwritten Constitution
अल्पजनकतंत्र	Oligarchy
अल्पसंख्यक जाति	Minority community
असंगठित	Unorganised

आ

आगे की शिक्षा	Continuation Education
आत्मानुभव	Self-realization
आदर्शवाद	Idealism
आदिमकाल	Earliest times
आधारभूत	Basic
आयात	Import
आवश्यक आर्थिक सुविधा	Economic minimum
आविष्कार	Invention

उ

उच्चजनतन्त्र	Aristocracy
उच्चजन सत्ता	,,
उच्चशिक्षा	Higher Education
उत्तरदायित्वपूर्ण शासन	Responsible Government
उत्पादन	Production
उदार शिक्षा	Liberal Education
उद्भिजविज्ञान	Botany
उपभोग	Consumption
उपयुक्त जीवन-निर्वाह	Right living
उपसिद्धान्त	Corollary
उपादान	Ingredients

ए

एकसभात्मक व्यवस्थापिका	Unicameral Legislature
एकात्मक राज्य	Unitary State
एकाधिकार	Monopoly

क

कठोर विधान	Rigid Constitution
क़ानून राज्य	Law State

क़ानूनविज्ञान	Jurisprudence
कारणात्मक	Causal
कार्यप्रणाली	Procedure
कुटुम्ब	Family
केन्द्रीकृत राज्य	Centralised State
कोमलता	Plasticity
क्रियाशील	Active, dynamic
कृत्रिम	Artificial

ग

गण	Guild
गतिदायक शक्ति	Driving force
गारन्टी	Guarantee
गोष्ठी	Club

च

चरमशक्ति	Sovereignty

ज

जटिल	Complex
जड़पदार्थ	Inanimate substances
जनता	People
जन्मसिद्ध समुदाय	Association based on kinship

जन्तुविज्ञान	Zoology
ज़मानती ख़त	Letters of security
जीवतत्त्ववेत्ता	Biologist
जीवनविज्ञान	Science of Life
जीवविद्या सम्बन्धी विज्ञान	Biological Science
ज्योतिषशास्त्र	Astronomy

त

तथ्य	Fact
तदनुवर्ती कर्त्तव्य	Corresponding obligation
तर्कशास्त्र	Logic
तानाशाह्	Dictator

द

दर्शनशास्त्र	Philosophy
दल	Party
द्विसभात्मक व्यवस्थापिका	Bicameral Legislature
दुग्धशाला	Dairy
दुर्बोध	Abstract
देशभक्ति	Patriotism
देशराज्य	Country-State

दोहरी राज्यभक्ति	Double allegiance
दृष्टिकोण	Standpoint

ध

धर्मसंघ	Church
धर्माधिकारी राज्य	Theocratic State

न

नगण्य	Insignificant
नगरराज्य	City-State
नरम विधान	Flexible Constitution
नागरिकता	Citizenship
नागरिकशास्त्र	Civics
नियमन	Regulation
नियमित	Formal
नियंत्रण	Control
निरंकुश	Despotic
निरपेक्षता	Disinterestedness
निराकार	Abstraction
निरीक्षणात्मक	Observational
निर्यात	Export
निर्बाध	Harmonious
निश्शुल्क	Free

निष्क्रिय	Passive
नीतिविज्ञान या नीतिशास्त्र	Ethics
नेतृत्व	Leadership
नैतिक आचरण	Morality
न्यूनाधिक	More or less

प

पत्रकार	Journalist
पदाधिकार	The right to office
परम्परागत रीतिरस्म	Traditions
पराधीनता	Subjection
परिष्कृत	Refined
परोपकारात्मक	Philanthropic
पर्यायवाची	Synonymous
पहलू	Aspect
पुरोहितगण	Priests
पूरक	Supplementary
पूरक अंग	Counterpart
पूँजीवादी	Capitalist
प्रकृति	Temperament
प्रत्यक्ष लोकतंत्र	Direct Democracy
प्रतिक्रिया	Reaction

प्रतिनिधिसभाएँ	Representative Assemblies
प्रधानकार्यकारिणी	Supreme Executive
प्रधानसचिव	Prime Minister
प्रभुता	Overlordship
प्रयोगात्मक	Experimental
प्राकृतिक	Natural
प्राकृतिक परिस्थिति	Physical environment
प्राकृतिक विज्ञान	Physical Science
प्रादेशिकता	Parochialism
प्रारम्भिक अधिकार	Elementary Right
प्रारम्भिक शिक्षा	Primary or Elementary Education
प्रेरणा	Impulse, Inspiration
प्रोत्साहन	Encouragement

ब

बड़े पैमाने पर	On a large scale
बहुमुखी	Varied, Diversified
बहुरूपता	Variety
बहुसंख्यक जाति	Majority community
बालिग़ मताधिकार	Adult Franchise
बालिग़ शिक्षा	Adult Education
बीमा-प्रणाली	System of Insurance

भ

भक्ति	Loyalty
भाईचारा	Fraternity
भाषणस्वतंत्रता	Liberty of expression
भावुकता	Sentimentalism
भूगर्भशास्त्र	Geology
भूमिका	Background
भौतिक जगत्	Physical Universe
भौतिकशास्त्र	Physics
भौमिक	Territorial

म

मंत्रिमंडल	Cabinet
मज़दूर-संघ	Labour Union
मताधिकार	Franchise
मध्यवर्ती विज्ञान	Borderland science
मनोरंजनात्मक	Recreational
मनोविज्ञान	Psychology
मनोवैज्ञानिक	Psychological
मनोवाञ्छित	Cherished
मातृगृह	Maternity Home
माध्यमिकशिक्षा	Secondary Education

मान	Standard
मानसिक संयम	Intellectual discipline
मानववंश विज्ञान	Ethnology
मानव विज्ञान	Anthropology
मानव व्यापार	Human phenomenon
मानवहितवाद	Humanitarianism
मार्गप्रदर्शक सिद्धान्त	Guiding principle
मार्जित	Refined
मिश्रितराज्य	Mixed State
मुद्रणकला	Printing or the art of Printing
मुल्की अधिकार	Civil Right
मौलिक अधिकार	Fundamental Rights

य

यातायात के साधन	Means of communication
यूनानी	Greeks

र

रसायनशास्त्र	Chemistry
राजतंत्र	Monarchy
राजसत्ता	„

राजनीति या राजनीतिशास्त्र	Politics or Political Science
राजनीतिक कर्त्तव्य	Political obligation
राजनीतिज्ञता	Statesmanship
राज्य	State
राष्ट्र	Nation
राष्ट्रराज्य	Nation-State
राष्ट्रसंघ	League of Nations
राष्ट्रीयता	Nationalism
राहदारी	Passport

ल

लंपटता	Dissipation
ललित कलाएँ	Fine Arts
लिखित विधान	Written Constitution
लोककल्याण	Popular welfare
लोकतंत्र	Democracy
लोकमत	Public opinion
लोकसत्ता	Democracy
लौकिक राज्य	Secular States

व

वयस्क	Adult, grown up

वर्ग	Class
वर्गीकरण	Classification
वातावरण	Atmosphere, Environment
वास्तुविद्या	Architecture
वाह्य आचरण	External behaviour
विकास	Development
विकृतराज्य	Perverted State
विकेन्द्रीकृत राज्य	Decentralised State
वितरण	Distribution
विद्युत्शक्ति	Electric power
विधान	Constitution
विनिमय	Exchange
विशुद्धगणित	Pure Mathematics
विशुद्धता	Exactitude
विश्लेषण	Analysis
विस्तारशील	Expansive
व्यक्तित्व	Individuality
व्यवसाय	Occupation, Profession, Vocation
व्यवस्थापिका	Legislature
व्यवस्थित	Systematised
व्यापकता	Universality

व्यापार	Affairs
व्यावहारिक	Practical
व्यावहारिकता	Practicality
व्यावहारिक विज्ञान	Applied Science
व्यावसायिक शिक्षा	Technical Education
व्यावसायिक स्वराज्य	Functional Self-government
वैयक्तिक	Individual

स

संकल्प विकल्प	Hesitation
संकुचित	Narrowed
संगठन	Organisation
संग्रथित	Interlaced
संगठित	Organised
संघ	Union, Federation
संघात्मक राज्य	Federal State
संयुक्त बैठक	Joint sitting or meeting
संशोधन	Amendment
संबंध विच्छेद	Divorce
संस्कृति	Culture
सक्रिय	Active
सजग	Alert

सदर अदालत	Supreme Judicature
सभात्मक शासन	Parliamentary Government
समुदाय	Association
समष्टि रूप से	As a whole
सम्मिलित अधिकार-क्षेत्र	Sphere of Concurrent Jurisdiction
सम्मिलित कार्यकारिणी	Collegiate Executive
सम्मिलित भूमि	Common territory
सरकार	Government
सर्वप्रधान राजा	Sovereign
सहयोग	Cooperation
सहयोगात्मक	Cooperative
सहिष्णुता	Toleration
साधन	Means
सामंजस्य	Adjustment
सामाजिक पराधीनता	Social subjection
सामाजिक विज्ञान	Social Science
सामाजिक प्रेरणा	Social stimulus
साम्प्रदायिक	Communal
साम्प्रदायिकता	Communalism, Sectarianism. Sectionalism

सार्वजनिक स्वास्थ्य	Public Health
सांस्कृतिक स्वतंत्रता	Cultural freedom
सीमित	Limited, circumscribed
सूदखोरी	Usury
सैनिकवाद	Militarism
सौन्दर्यबोध की क्षमता	Æsthetic sense
स्तनपायी पशु	Mammal
स्थानीय स्वराज्य	Local self-government
स्थायीकरण	Perpetuation
स्थितिपालक	Conservative
स्थूल रूप से	Broadly
स्वतंत्र गति	Free movement
स्वेच्छाधीन	Voluntary
स्वार्थपरता	Selfishness